प्रह्लाद विजय

[खण्ड काव्य]

रचयिता

स्वर्गीय श्री विजयसिंह पथिक

अरुण प्रकाशन

२१७८/६२ अब्दुल अजीज रोड,

करोल बाग, नई दिल्ली–५

प्रह्लाद विजय

[खण्ड काव्य]

रचयिता

स्वर्गीय श्री विजयसिंह पथिक

अरुण प्रकाशन

२१७८/६२ अब्दुल अजीज रोड,

करोल बाग, नई दिल्ली–५

प्रकाशक :
पथिक स्मारक समिति
जानकी निवास
जनरल गंज, मथुरा
द्वारा
अरुण प्रकाशन

मूल्य :
रुपये ४.००

प्रथम संस्करण
सन् १९६१ ई०

मुद्रक :
पाल ब्रादर्स,
द्वारा
रामाकृष्णा प्रेस,
दिल्ली–६

विषय सूची

	विषय	पृष्ठ संख्या
१.	जीवन परिचय	क से ज
२.	भूमिका	क से घ
३.	प्रथम सर्ग	१
४.	द्वितीय सर्ग	१७
५.	तृतीय सर्ग	३५
६.	चतुर्थ सर्ग	४७
७.	पंचम सर्ग	९६
८.	षष्ठ सर्ग	१०७

स्वर्गीय विजय सिंह पथिक

जीवन-परिचय

स्वर्गीय विजयसिंह पथिक आधुनिक राजस्थान के निर्माताओं में से थे। उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश भाग राजस्थान की पीड़ित और शोषित जनता की सेवा में बिताया। उनका जीवन एक संघर्षशील योद्धा का जीवन रहा। उनकी साधना और तपस्या का जीवन बहुतों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना। उन्हें अपने जीवन में नाना प्रकार के कष्टों और विपत्तियों का सामना करना पड़ा, किन्तु उन सबका उन्होंने हँसते हुए स्वागत किया। कारण जीवन में उनके सामने एक महान लक्ष्य था—देश की स्वतंत्रता और पीड़ितों और शोषितों की मुक्ति। कष्टों और विपत्तियों ने उनके संकल्प को मजबूत ही बनाया। वह अपने निर्धारित पथ पर आगे बढ़ते गए और जीवन के अन्तिम क्षण तक संघर्ष करते रहे। उनके जीवन का यह मंत्र ही था—

यश वैभव सुख की चाह नहीं,
परवाह नहीं, जीवन न रहे;
यदि इच्छा है यह है,
जग में स्वेच्छाचार दमन न रहे।

जिस समय पथिकजी ने राजस्थान के कर्म-क्षेत्र में पाँव रखा, उस समय राजस्थान का नक्शा कुछ और ही था। राजस्थान अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभिक्त था और चारों ओर सामन्तवाद का बोलबाला था। सामन्तवाद ने राजस्थान की जनता को अपनी नागपाश में जकड़ा हुआ था और रियासती प्रजा निश्चेष्ट भाव से उसके अत्याचारों को सहन कर रही थी। पथिकजी ने एक और अखण्ड राजस्थान की कल्पना की और राजस्थानी युवकों में उस राजस्थान की भक्ति करने की चाह उत्पन्न की। उन्होंने अपनी दूर दृष्टि से यह देख लिया था कि भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से राजस्थान की एक ही इकाई हो सकती है और होनी चाहिए। राजा-महाराजाओं की दृष्टि अपने राज्यों तक सीमित रही, किन्तु पथिकजी ने समग्र राजस्थान को अपना

कार्य-क्षेत्र माना और उसकी सेवा के लिए जिस संस्था की स्थापना की उसका नाम भी राजस्थान सेवा संघ ही रखा। राजस्थान का लोक-व्यवहार अलग-अलग रियासतों की चारदीवारी में सीमित नहीं था। यह बाड़ेबंदी लोगों को कष्टकर ही प्रतीत होती थी। सभी रियासतों में एक समान निरंकुश शासन था और उससे मुक्ति पाने की समान छटपटाहट थी और उसके लिए समान और संयुक्त प्रयत्नों की भी आवश्यकता थी। पथिकजी ने जो संयुक्त राजस्थान का स्वप्न देखा, वह देश के स्वतंत्र होने के पश्चात् भारत के लौह पुरुष सरदार पटेल के हाथों साकार हुआ। अलग-अलग रियासतों का, जो सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही थीं, विलय हुआ और संयुक्त राजस्थान अस्तित्व में आया। आज नया राजस्थान भारतीय संघ के समान अंग के रूप में प्रगति पथ पर अग्रसर है और उसकी दो करोड़ जनता स्वतन्त्रता के वायुमण्डल में सांस ले रही है एवं अपने भाग्य की स्वयं मालिक है।

पथिक जी का प्रारंभिक जीवन बहुत कुछ रहस्याच्छादित रहा। इसका एक बड़ा कारण यह था कि उन्होंने क्रान्तिकारी हलचलों में भाग लिया था और गिरफ्तारी से बचने के लिए उन्हें अपना नाम भी बदल लेना पड़ा। किसी समय के भूपसिंह ही विजयसिंह बन गए। सरदार पटेल की भाँति पथिक जी का उदाहरण भी यह सिद्ध करता है कि साधारण जनता के भीतर से भी नेतृत्व पनप सकता है। पथिक जी का जन्म एक किसान-परिवार में हुआ था और बुलन्दशहर जिले का गुठावली अख्तियारपुर गाँव उनकी बाल्य क्रीड़ास्थली रहा। उनके पूर्वजों ने सन् १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति में भाग लिया था और इसलिए उन्हें देशभक्ति की भावना पैतृक रूप से विरासत में मिली थी। उनकी माताजी भी बड़ी निर्भीक थीं और उन्होंने पुलिस के अत्याचारों का डटकर मुकाबला किया था। माँ की निर्भीकता पुत्र में प्रकट हुई। पथिकजी के बहनोई राजस्थान में काम करते थे, इसलिए वह उनके साथ राजस्थान चले आए और राजस्थान के ही हो गए। वह राजस्थान के जीवन में इतने घुल मिल गए थे कि उन्हें कोई गैर राजस्थानी कह ही नहीं सकता था। राजस्थानी भाषा पर उन्हें पूरा अधिकार प्राप्त हो गया और हिन्दी की कविताओं की भाँति उनकी राजस्थानी कविताओं ने भी आम लोगों को बड़ी प्रेरणा दी।

पथिकजी ने अपने जीवन का विकास स्वयं ही किया। यद्यपि उन्होंने किसी कालेज में उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं की, किन्तु अपने अध्यवसाय से वह अच्छे लेखक और कवि बनने में सफल हुए और अंग्रेजी, उर्दू, गुजराती आदि अनेक

प्रादेशिक भाषाओं का उन्होंने अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। सन् १९१४ में स्वर्गीय रासबिहारी बोस ने भारत को अंग्रेजों की पराधीनता से मुक्त करने के लिए सशस्त्र क्रान्ति का आयोजन किया था। राजस्थान के कुछ राजाओं की इस प्रयास के साथ छिपी सहानुभूति थी। अजमेर के पास खरवा के एक सामन्त राव गोपालसिंह इन प्रयत्नों में सक्रिय भाग ले रहे थे। पथिकजी उनके मुख्य सहयोगियों में से थे। क्रान्ति का यह प्रयत्न विफल रहा और राव गोपालसिंह को अंग्रेजों ने नजरबंद कर दिया। पथिकजी इस नजरबंदी से बचकर निकल भागे और उन्होंने मेवाड़ में जाकर शरण ली।

पथिकजी मेवाड़ में जन-नेता के रूप में सामने आए। उन्होंने बिजोलिया को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। उनमें नेतृत्व के गुण पहले से मौजूद थे। वे एक अच्छे संगठनकर्ता भी सिद्ध हुए। बिजोलिया एक सामन्ती ठिकाना था और वहाँ के किसानों का बुरी तरह शोषण और उत्पीड़न हो रहा था। देखते-देखते पथिकजी ने इन किसानों का प्रेम और विश्वास सम्पादन कर लिया। उन्होंने किसान पंचायत को संगठित किया और किसानों को संगठित होकर अन्याय का मुकाबला करने के लिए प्रेरित किया। फलस्वरूप बिजोलिया में देश का सबसे पहला सामूहिक किसान सत्याग्रह हुआ। किसानों से जागीरदार लगान के अलावा ८० प्रकार की लागतें (टैक्स) वसूल करता था। तरह तरह की बेगारें लेता था और उन्हें अमानुषिक दण्ड दिए जाते थे। किसानों ने बेगार, लागतें और लगान देने से इंकार कर दिया और कई वर्ष तक खेती ही नहीं की। यह किसान सत्याग्रह छः-सात वर्ष तक चला; जागीरदार और राज्य ने दमन करने में भी कोई कसर नहीं रखी, किन्तु किसान पस्तहिम्मत नहीं हुए। बिजोलिया के किसान आन्दोलन ने महात्मा गाँधी का भी ध्यान आकर्षित किया और उसका अध्ययन करने के लिए उन्होंने अपने निजी सचिव श्री महादेव देसाई को भेजा था। महात्मा गाँधी ने यह आश्वासन दिया था कि यदि राज्य ने किसानों के साथ न्याय नहीं किया, तो वह स्वयं उनका नेतृत्व करेंगे। किन्तु इसकी नौबत नहीं आई। बिजोलिया के आन्दोलन का असर दूर-दूर पड़ रहा था। लोग अन्याय और अत्याचारों के विरुद्ध उठ रहे थे। जन-असंतोष व्यापक होता जा रहा था। अतः ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि ने राज्य को समझौता करने का परामर्श दिया और उनकी मध्यस्थता में सामन्त और किसानों के बीच सम्मानपूर्ण समझौता हो गया। अनुचित लागतें माफ कर दी गईं, जमीन का फिर से बन्दोबस्त कराने की बात तय पाई और किसान पंचायत को

किसानों की प्रतिनिधि संस्था के रूप में स्वीकार किया गया एवं उसे कुछ कानूनी अधिकार भी प्रदान किए गए। बिजोलिया का यह सफल और शानदार किसान-सत्याग्रह पथिक जी की कृति था। उन्होंने किसानों के बीच रह कर उसे चलाया और सफल बनाया। बिजोलिया के किसान पथिकजी की सेवाओं को आज भी याद करते हैं और उनकी स्मृति में अपना सिर श्रद्धा से झुका लेते हैं।

बिजोलिया के किसान सत्याग्रह के सिलसिले में ही पथिकजी अमर शहीद स्वर्गीय गणेशशंकर जी विद्यार्थी के सम्पर्क में आए और दोनों की मित्रता अंत तक बनी रही। बिजोलिया के किसानों ने विद्यार्थी जी को राखी भेजी थी और विद्यार्थी जी ने बिजोलिया के किसानों की कष्ट-गाथा और आन्दोलन को अपने पत्र 'प्रताप' द्वारा नियमित प्रसिद्धि प्रदान की। उसके फलस्वरूप उन्हें राज्य का कोपभाजन बनना पड़ा और 'प्रताप' का राज्य में प्रवेश निषेध कर दिया गया। किन्तु कोई भी स्वाधीनचेता पत्रकार न्याय का पक्ष लेने से कैसे विरत हो सकता है ? विद्यार्थी जी सचमुच एक स्वाधीन चेता पत्रकार थे।

बिजोलिया के समीप ही बेगूं एक और सामन्ती ठिकाना था। यहाँ के किसान भी पथिक जी और राजस्थान सेवा संघ के नेतृत्व में सामन्ती शोषण के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे। यहाँ राज्य ने समझौते के बजाय दमन का आश्रय लिया। राज्य ने किसानों के एक मजमे पर गोलियाँ चलाईं। दो किसान शहीद हुए और सैंकड़ों को गिरफ्तार कर लिया गया। यह सब राज्य के एक अंग्रेज अधिकारी की देख-रेख में हुआ। पथिक जी इस आड़े वक्त में किसानों को अकेला नहीं छोड़ सकते थे। वे किसानों को हिम्मत बँधाने और उनका नेतृत्व करने के लिए उनके मध्य पहुँच गए। राज्य ने मौका देखकर पथिकजी को गिरफ्तार कर लिया। उन पर एक विशेष न्यायालय के सामने राजद्रोह के आरोप में मुकद्दमा चलाया गया। यह एक ऐतिहासिक मुकद्दमा था। पथिक जी ने न्यायालय के सामने एक विस्तृत बयान दिया था। उसमें उन्होंने रियासतों में ब्रिटिश कूटनीति के षडयंत्रों का पर्दाफाश किया था और रियासती जनता के दमन, शोषण और उत्पीड़न की एक नंगी तस्वीर खींचकर रख दी थी। राज्य के उच्चतम न्यायालय से निर्दोष सिद्ध होने के बाद भी पथिकजी को महाराणा की विशेष आज्ञा से जेल में बन्द रखा गया। उन्हें पाँच वर्ष तक उदयपुर की जेल में रहना पड़ा। इस अवधि में पथिकजी ने ढेर सारे साहित्य की रचना की। यह 'प्रह्लाद विजय' काव्य भी उसी काल की

रचना है। सन् १९२८ में जब वह जेल से रिहा हुए तो उनका सारा साहित्य राज्य ने अपने पास रोक लिया था और उनका मेवाड़ में प्रवेश निषेध कर दिया था। स्वतन्त्रता के बाद ही जेल में लिखा हुआ साहित्य उन्हें वापस मिल सका और वह अब उनके निधन के बाद धीरे-धीरे पाठकों के सामने आ रहा है।

उदयपुर जेल से रिहा होने के बाद पथिकजी ने अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् की प्रवृत्तियों में हिस्सा लेना शुरू किया और वह उसके उपाध्यक्ष चुने गए। कांग्रेस ने शुरू से ही अपने को देशी रियासतों के आन्दोलनों से अलग रखा। उसके नेताओं का यह मानना था कि कांग्रेस को एक समय एक ही मोर्चे पर अपनी शक्ति केन्द्रित करनी चाहिए। अगर अंग्रेजों से निपट लिया गया तो राजा-महाराजा अपने-आप ठीक हो जाएँगे। किन्तु पथिक जी और दूसरे रियासती नेताओं की मान्यता इससे भिन्न थी। उनका कहना था कि यदि रियासतों को अछूता छोड़ दिया गया तो अंग्रेज राजाओं का उपयोग भारतीय स्वतन्त्रता के विरोध में करेंगे। अगर रियासती जनता संगठित और जागृत होगी तो स्वतंत्रता का पक्ष पुष्ट होगा और राजा-महाराजा राष्ट्र-विरोधी रुख न अपना सकेंगे। प्रजा का दबाव उनको पथ-भ्रष्ट न होने देगा। घटनाओं ने इस मान्यता का औचित्य ही सिद्ध किया। उस समय कांग्रेस ने रियासतों में अपनी शाखाएँ कायम करना स्वीकार नहीं किया, किन्तु पथिक जी और दूसरे रियासती नेताओं के अनुरोध पर सन् १९२० में रियासती जनता को कांग्रेस ने प्रतिनिधि बनने का अधिकार दे दिया। रियासती जनता को अपने राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई स्वयं ही लड़नी पड़ी। अवश्य ही कांग्रेस की नैतिक सहानुभूति उसके साथ थी।

राजस्थान सेवा संघ के सम्बन्ध में यहाँ दो शब्द कहना अप्रासंगिक नहीं होगा। जिस प्रकार स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले ने राष्ट्र के लिए आजीवन सेवा का व्रत लेने वाले कार्यकर्ता सुलभ करने के लिए भारत सेवक समिति और स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने लोक सेवक समिति जैसी संस्थाओं की स्थापना की थी, वैसी ही पथिकजी द्वारा स्थापित यह संस्था भी थी। इसमें राजस्थान की आजन्म सेवा का व्रत लेने वाले कार्यकर्ता इकट्ठे हुए थे। यों कहना चाहिए कि यह कार्यकर्ताओं का एक नया कुटुम्ब ही स्थापित हुआ था। उसमें कर्यकर्ताओं ने व्यक्तिगत सम्पत्ति और निजी स्वार्थों को एक उच्च ध्येय के लिए तिरोहित कर दिया था। यह देश के लिए काम करने वाले फाकामस्त और फक्कड़ कार्यकर्ताओं की संस्था थी और उसकी गतिविधियों ने सारे

राजस्थान को हिला दिया था। स्थानीय प्रजामण्डलों के अस्तित्व में आने के पहले राजस्थान के जिस किसी हिस्से में भी कोई आन्दोलन उठता, चाहे वह सिरोही का भील आन्दोलन हो, चाहे बूंदी का किसान आन्दोलन और चाहे अलवर में नीमूचाणा का हत्याकाण्ड, इस संस्था के कार्यकर्ता पीड़ितों का पक्ष लेने और उन्हें राहत पहुँचाने के लिए सबसे आगे होते थे। आज वह निष्ठा और लगन कार्यकर्ताओं में क्वचित ही दिखाई देती है जो इस संस्था के कार्यकर्ताओं में थी। राजस्थान के जन-जागरण में पथिकजी और राजस्थान सेवा संघ का योग कभी भुलाया नहीं जा सकता।

पथिकजी का लेखक और कवि एक उच्च मिशन से प्रेरित था। उन्होंने अनेक पत्रों को जन्म दिया और उनका सफलतापूर्वक सम्पादन किया। उन्होंने सन् १९२० में वर्धा से स्वर्गीय सेठ जमनालालजी बजाज के सहयोग से 'राजस्थान केसरी' साप्ताहिक निकाला। उसके बाद अजमेर से 'नवीन राजस्थान' को जन्म दिया, जो बाद में 'तरुण राजस्थान' बना। उसके बाद उन्होंने अजमेर से ही 'राजस्थान संदेश' निकाला। वह राष्ट्रीय पथिक, निरंकुश और अनघड नाम से काव्य-रचना करते थे। उनके काव्य में भावों की उड़ान, देश-भक्ति, व्यंग्य-विनोद और मार्मिकता के दर्शन सहज ही होते हैं। उनके लेखों और निबंधों की प्रौढ़ता देखते ही बनती है। उन्होंने इतिहास की, विशेषकर गण-राज्यों के इतिहास की शोध-खोज का भी बड़ा काम किया है। साहित्य की जो साधना उन्होंने की है, वह केवल मानव संस्कारों के परिष्कार के महत हेतु से प्रेरित होकर। इसलिए उनके साहित्य का स्थायी महत्व है।

पथिकजी ने देश को राष्ट्रीय झण्डा गान दिया है। केवल इस गान के कारण ही वह साहित्य में अमर होने चाहिए। अजमेर-जेल में बन्द सत्याग्रही बंदी जब यह झण्डा गान गाते थे, तब उससे कितनी प्रेरणा पाते थे। उसकी ये प्रथम पंक्तियाँ प्राण मित्रो भले ही गँवाना, पर झण्डा न यह नीचे झुकाना' अवचेतन मन में आज भी सदा ही गूँजती रहती हैं। उनके काव्य में कितनी दृढ़ता और जोश था, उसका एक नमूना यहाँ देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। कवि राजस्थानियों का आह्वान करता है और फिर उनकी ओर से कुछ प्रतिज्ञा भी करता है :—

रेशम समझ कर रेजियों को ही सदा अपनाएँगे;
वे भी न यदि हमको मिलेंगी, भस्म देह रमाएँगे।

सूखे चने खाने पड़ें, पकवान गिनकर खाएँगे;
आसन न होगा, घास पत्ते या पयाल बिछाएँगे।
क्या विघ्न के राक्षस हमें भय का प्रपंच दिखाएँगे;
हम देश हित यमराज से भी मुदित हाथ मिलाएँगे।
तिल तिल अगर कटना पड़े, निर्भय खड़े कट जाएँगे;
पर वीर राजस्थान का हर्गिज न नाम डुबोएँगे।

पथिकजी राजस्थान की जन जागृति के अग्रदूत थे। उन्होंने राजस्थान में क्रान्ति की अग्नि को प्रज्वलित किया। वह अग्नि धीमे-धीमे प्रखर होती गई और अन्त में अन्याय और अत्याचार पर टिकी सामन्ती-व्यवस्था को भस्म करके ही शान्त हुई। नमक सत्याग्रह के समय वह राजपूताना, मध्यभारत और अजमेर-मेरवाड़ा प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे और इसी नाते वह दुबारा जेल गए। जेल में उन्होंने एक कविता लिखी थी—'कुछ उजबक कैदी आए हैं' जो हास्य-विनोद का उत्तम नमूना है। पथिकजी अपने प्रारम्भिक जीवन में बड़े आस्तिक थे। गीता के निष्काम कर्मयोग में उनकी गहरी आस्था थी। धीरे-धीरे उन पर मार्क्सवाद का प्रभाव गहरा होने लगा था। वैसे अराजकतावाद को वह आदर्श समाज-व्यवस्था स्वीकार करते थे।

देश स्वतंत्र हुआ, किन्तु स्वतंत्रता के बाद देश में जिन परिस्थितियों का निर्माण हुआ, उनके अनुकूल यह अपने को बना नहीं पाए। उनकी सेवाओं की जो स्वीकृति मिलनी चाहिए थी, वह उन्हें नहीं मिली और इसलिए उनका मन वितृष्णा से भर गया था। आज से कोई सात वर्ष पूर्व अजमेर में एक साधारण-सी बीमारी के बाद ७२ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। मृत्यु से पहले अजमेर के पास कार्यकर्ताओं के लिए एक साधना आश्रम और साहित्य-प्रकाशन केन्द्र स्थापित करने की उन्होंने योजना बनाई थी; कारण वह निष्क्रिय बैठने वाले व्यक्ति नहीं थे। समाज को कुछ न कुछ देते रहना चाहते थे। किन्तु उनकी मृत्यु ने उनके जीवन-कार्य को बीच में ही समाप्त कर दिया। देश की स्वतन्त्रता और नये समाज की रचना के लिए अन्याय और अत्याचारों से मोर्चा लेने वाले एक उद्भट योद्धा का जीवन-दीप बुझ गया और उसके बाद कभी पूरी न होने वाली रिक्तता ही शेष रह गई है।

पथिकजी के जीवन का यह संक्षिप्त परिचय यहाँ इसलिए दिया जा रहा है कि पाठक इस काव्य के लेखक के व्यक्तित्व से भली प्रकार परिचित हो

सके। यह परिचय उनकी स्मृति को ताजा करेगा और आशा है भावी पीढ़ियाँ उससे प्रेरणा गृहण करेंगी।

इन पंक्तियों के लेखक को पथिक जी ने देशशक्ति की भावनाओं से अनुप्राणित किया था। उसके जीवन निर्माण में उनका बड़ा योग रहा है। वह उनकी पावन स्मृति में अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करता है।

अन्त में मुझे 'हिन्दुस्तान' के उपसम्पादक भाई शरदेन्दुजी के प्रति अपना आभार प्रकट करना है, जिन्होंने पथिकजी की इस रचना का सम्पादन करने और उसके प्रूफ आदि का संशोधन करने में भारी परिश्रम उठाया है। पथिक जी के प्रति उनके हृदय में जो श्रद्धा और सराहना की भावना है, उसकी साकार अभिव्यक्ति इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने दी है।

राजस्थान सरकार के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिसने पथिकजी के साहित्य-प्रकाशन में अमूल्य आर्थिक सहयोग प्रदान किया है।

२१७८, नाईवाला
करोल बाग, नई दिल्ली ५।

शोभालाल गुप्त
अध्यक्ष, पथिक स्मारक समिति,

भूमिका

पथिक जी के दो रूप मेरे सामने हैं—एक राजनीतिक और दूसरा कवि। मेरे मन में प्रश्न उठता है—उनके इन रूपों में कौन बड़ा है? और बहुत खोजने पर भी मुझे इसका उत्तर नहीं मिल पाता। बिजोलिया किसान सत्याग्रह का नेतृत्व कर उन्होंने हमारे स्वाधीनता संग्राम को जहाँ नई दिशा प्रदान की, वहाँ उनकी राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत कविताओं ने हममें नए प्राण फूंके।

मुझे स्मरण है, १९३० के नमक-सत्याग्रह के दौरान में, जब स्वाधीनता की भावना से सम्पूर्ण देश उफन उठा था, एक चार-पाँच वर्ष का बालक छोटा-सा तिरंगा झंडा उठाए अपनी बड़ी बहन के साथ अपने कस्बे का चक्कर लगाया करता था। उसके छोटे-मुख से या तो 'भारत माता की जय', 'महात्मा गांधी की जय' और 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे निकलते थे या पथिक जी की ये ऐतिहासिक पंक्तियाँ—

प्राण मित्रो, भले ही गँवाना;
पर न झंडा यह नीचे झुकाना।
तीन रंगा यह झंडा हमारा;
बीच चर्खा चमकता सितारा!

मैं प्रायः सोचता हूँ कि यदि पथिक जी के ये दो रूप आपस में न टकरा कर एक दूसरे के पूरक हुए होते तो राष्ट्रीय नव-जागरण में आज उनकी क्या स्थिति होती। क्या वह राष्ट्रीय कर्णधारों की अग्रिम पंक्ति में बैठे नहीं दिखाई देते? लेकिन इसे पथिक जी का दुर्भाग्य कहिए कि उनका राजनीतिज्ञ और उनका कवि आपस में टकरा गए। उनके कवि ने उन्हें सफल राजनीतिज्ञ नहीं बनने दिया; क्योंकि परिस्थितियों से समझौता करने में उन्होंने स्वयं को अस-

मर्थ पाया। उनके राजनीतिज्ञ ने उनके कवि-मन के प्रस्फुटन में निरन्तर बाधा डाली।

यहाँ मैं केवल उनके कवि-रूप की चर्चा करना चाहता हूँ। स्वतन्त्रता-संग्राम के सैनिकों को 'राष्ट्रीय पथिक' का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। उनकी कविताएँ उस समय नई भावना का, नई चेतना का प्रतीक बनी हुई थीं। लेकिन उनका कवि अपनी चरमस्थिति में पहुँच सका 'प्रह्लाद विजय में।

मैं हैरान हूँ कि यह पुस्तक रची जाने के लगभग तीन शताब्दियों बाद अब प्रकाश में आ रही है। दो शताब्दियों तक तो वह उदयपुर राज्य के कारागार में कैद रही और उसके बाद पथिक जी अपनी व्यस्तताओं में उसके प्रकाशन की सुविधा न जुटा पाए। अब भी वह प्रकाशकों के उत्साह के कारण प्रकाश में नहीं आ रही है; वरन् इसका श्रेय पथिक जी के उन स्नेहियों, साथियों एवं भक्तों को है जो उनकी कीर्ति-रक्षा का प्रयत्न कर रहे हैं।

पुस्तक उदयपुर कारावास में रची गई है। शायद इस प्रकार के व्यस्त साहित्यिक राजनीतिज्ञों के लिए कारावास ही ऐसा स्थल है जहाँ वे अन्य चिन्ताओं से मुक्त होकर साहित्य सृजन में दत्तचित्त हो सकते हैं। खंड-काव्य का आधार सुरासुर-संग्राम की सुपरिचित पौराणिक कथा है—हिरण्यकशिपु [हिरण्यकश्यप] का देवलोक पर आक्रमण, उसका उत्पात, भयानक संग्राम, अंत में देव-पक्ष की विजय और हिरण्यकशिपु का पलायन, उसकी गर्भवती रानी का देव-सेना के हाथ में पड़ जाना और इन्द्र का उसको सदुपदेश, जिसके प्रभाव से कालान्तर में रानी के गर्भ से जन्म लेकर प्रह्लाद ने असुरों का उद्धार किया।

कथा का चयन करने में पथिक जी ने काफी सूझ-बूझ से काम लिया है। उसके विकास में उन्होंने आसुरी साम्राज्यवाद का, उनके पाशविक समाज का, नारियों की दुर्दशा का, देवों के सत्य-अहिंसा प्रेम का, और भावी समता-आधारित विश्व के स्वप्न का जैसा चित्र खींचा है; उसने उन्हें मात्र कवि नहीं रहने दिया, वरन् भविष्यद्दृष्टा बना दिया है और उन्हें राष्ट्रीय कवियों की सर्वाग्रणी पंक्ति में ला बैठाया है।

रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पथिक जी वातावरण से निराश होकर न तो महाक्रान्ति की आवाज़ लगाते हैं और न मात्र किसी राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ अपने को बहने देते हैं। उन्होंने जिस साम्राज्यवाद-विरोधी दृष्टिकोण को अपनाया है और समता, शान्ति तथा न्याय पर आधारित

जिस नए विश्व की कल्पना की है, उसने इस रचना को देश तथा काल की सीमाओं से ऊपर उठा दिया है। यही कारण है कि आज तीन दशाब्दी बाद उसका प्रकाशन होने पर भी, भले ही उसका छन्द-विन्यास एवं भाषा कुछ पुरानी लगती हो, ऐसा आभास होता है कि पथिक जी आज भी अवशिष्ट साम्राज्यवाद को, युद्ध के खूँख्वार पशु को उसी वेग से ललकार रहे हैं और उसके प्रतिकार के लिए सत्य तथा अहिंसा का वीरतापूर्ण आदर्श हमारे सामने रख रहे हैं। इस सम्बन्ध में मौलिकता बरतते हुए भी वह देश की प्रमुख गांधीवादी धारा से कहीं विलग नहीं होते—

नहीं वीरता है, विबुधो! वैरी का वध करने में,
है वीरत्व सत्य पर निर्भय डटे हुए मरने में!
सच्चा विजयी है न वह, जयी होकर जो आता है,
प्रत्युत वह, जो बिना झुके निज प्रण पर मिट जाता है।

कलिंगोत्तर अशोक की भाँति इन्द्र की चिन्ता आज दो महासमरों से पीड़ित अखिल मानवता की चिन्ता बन जाती है—

युद्ध नहीं कुछ धर्म-कार्य है, हिंसा नहीं प्रगति है;
स्वातंत्र्याश्रित सुरक्षार्थ ही बस उसकी अनुमति है!

इसी युद्ध के विरुद्ध समस्त संसार की नारियों—माताओं, बहनों व पत्नियों—को स्वर देती हुई हिरण्यकशिपु की रानी कहती है—

असुर-महिषी बोली, "सुरनाथ! मुझे तो है यह दृढ़ विश्वास;
कि रखना प्राणिमात्र पर प्रेम, मात्र है धर्म, और परिहास!
अगर वश होता मेरा, प्रभो! युद्ध करना मैं गिनती पाप;
द्वेष, ईर्ष्या, लालच को सदा मानती करुणाकर का श्राप।"

अब संयुक्त राष्ट्रसंघ की कल्पना देखिए गुरु वृहस्पति के शब्दों में—

निश्चय हुआ सभी देशों को आमंत्रण भिजवाना;
एक जगह सब राष्ट्र-समूहों के प्रतिनिधि बुलवाना!
भिन्न-भिन्न भाषा, आकृति वाले, विभिन्न देशों के;
भिन्न-भिन्न व्यवहारों वाले, भिन्न-भिन्न वेशों के;
राज्य, प्रजा, सबके प्रतिनिधि, विद्वान, वीर, व्यवसायी;
सबने मिल, थी विश्व-शान्ति की नूतन नीति बनाई।

और अंत में इन्द्र के शब्दों में नए विश्व का स्वप्न देखिए—

फिर, इस द्वेष-दग्ध जग में सुख का समुद्र लहराए;
फिर, जगत पर बन्धु-भाव की विमल चंद्रिका छाए !
फिर, मरुथल कूजित कुंजों, स्मित पुष्पों से भर जाएँ;
फिर, कोकिल, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की रागिनी सुनाएँ !
फिर, बल की पूजा उठकर हो सत्य, न्याय की चर्चा;
फिर, घर-घर में स्वार्थ छोड़ हो त्यक्ति-भक्ति की चर्चा !

काश ! यह रचना समय से प्रकाश में आ गई होती । कौन कह सकता है कि तब हिन्दी और विश्व साहित्य को पथिक जी से इससे भी श्रेष्ठ रचनाएँ न मिली होतीं ।

दैनिक हिन्दुस्तान,
नई दिल्ली ।

शरदेन्दु

भूमिका

पथिक जी के दो रूप मेरे सामने हैं—एक राजनीतिक और दूसरा कवि। मेरे मन में प्रश्न उठता है—उनके इन रूपों में कौन बड़ा है? और बहुत खोजने पर भी मुझे इसका उत्तर नहीं मिल पाता। बिजोलिया किसान सत्याग्रह का नेतृत्व कर उन्होंने हमारे स्वाधीनता संग्राम को जहाँ नई दिशा प्रदान की, वहाँ उनकी राष्ट्रीय चेतना से ओत-प्रोत कविताओं ने हममें नए प्राण फूंके।

मुझे स्मरण है, १९३० के नमक-सत्याग्रह के दौरान में, जब स्वाधीनता की भावना से सम्पूर्ण देश उफन उठा था, एक चार-पाँच वर्ष का बालक छोटा-सा तिरंगा झंडा उठाए अपनी बड़ी बहन के साथ अपने कस्बे का चक्कर लगाया करता था। उसके छोटे-मुख से या तो 'भारत माता की जय', 'महात्मा गांधी की जय' और 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे निकलते थे या पथिक जी की ये ऐतिहासिक पंक्तियाँ—

प्राण मित्रो, भले ही गँवाना;
पर न झंडा यह नीचे झुकाना।
तीन रंगा यह झंडा हमारा;
बीच चर्खा चमकता सितारा!

मैं प्रायः सोचता हूँ कि यदि पथिक जी के ये दो रूप आपस में न टकरा कर एक दूसरे के पूरक हुए होते तो राष्ट्रीय नव-जागरण में आज उनकी क्या स्थिति होती। क्या वह राष्ट्रीय कर्णधारों की अग्रिम पंक्ति में बैठे नहीं दिखाई देते? लेकिन इसे पथिक जी का दुर्भाग्य कहिए कि उनका राजनीतिज्ञ और उनका कवि आपस में टकरा गए। उनके कवि ने उन्हें सफल राजनीतिज्ञ नहीं बनने दिया; क्योंकि परिस्थितियों से समझौता करने में उन्होंने स्वयं को अस-

मर्थ पाया। उनके राजनीतिज्ञ ने उनके कवि-मन के प्रस्फुटन में निरन्तर बाधा डाली।

यहाँ मैं केवल उनके कवि-रूप की चर्चा करना चाहता हूँ। स्वतन्त्रता-संग्राम के सैनिकों को 'राष्ट्रीय पथिक' का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। उनकी कविताएँ उस समय नई भावना का, नई चेतना का प्रतीक बनी हुई थीं। लेकिन उनका कवि अपनी चरमस्थिति में पहुँच सका 'प्रह्लाद विजय में।

मैं हैरान हूँ कि यह पुस्तक रची जाने के लगभग तीन शताब्दियों बाद अब प्रकाश में आ रही है। दो शताब्दियों तक तो वह उदयपुर राज्य के कारागार में कैद रही और उसके बाद पथिक जी अपनी व्यस्तताओं में उसके प्रकाशन की सुविधा न जुटा पाए। अब भी वह प्रकाशकों के उत्साह के कारण प्रकाश में नहीं आ रही है; वरन् इसका श्रेय पथिक जी के उन स्नेहियों, साथियों एवं भक्तों को है जो उनकी कीर्ति-रक्षा का प्रयत्न कर रहे हैं।

पुस्तक उदयपुर कारावास में रची गई है। शायद इस प्रकार के व्यस्त साहित्यिक राजनीतिज्ञों के लिए कारावास ही ऐसा स्थल है जहाँ वे अन्य चिन्ताओं से मुक्त होकर साहित्य सृजन में दत्तचित्त हो सकते हैं। खंड-काव्य का आधार सुरासुर-संग्राम की सुपरिचित पौराणिक कथा है—हिरण्यकशिपु [हिरण्यकश्यप] का देवलोक पर आक्रमण, उसका उत्पात, भयानक संग्राम, अंत में देव-पक्ष की विजय और हिरण्यकशिपु का पलायन, उसकी गर्भवती रानी का देव-सेना के हाथ में पड़ जाना और इन्द्र का उसको सदुपदेश, जिसके प्रभाव से कालान्तर में रानी के गर्भ से जन्म लेकर प्रह्लाद ने असुरों का उद्धार किया।

कथा का चयन करने में पथिक जी ने काफी सूझ-बूझ से काम लिया है। उसके विकास में उन्होंने आसुरी साम्राज्यवाद का, उनके पाशविक समाज का, नारियों की दुर्दशा का, देवों के सत्य-अहिंसा प्रेम का, और भावी समता-आधारित विश्व के स्वप्न का जैसा चित्र खींचा है; उसने उन्हें मात्र कवि नहीं रहने दिया, वरन् भविष्यद्दृष्टा बना दिया है और उन्हें राष्ट्रीय कवियों की सर्वाग्रणी पंक्ति में ला बैठाया है।

रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पथिक जी वातावरण से निराश होकर न तो महाक्रान्ति की आवाज लगाते हैं और न मात्र किसी राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ अपने को बहने देते हैं। उन्होंने जिस साम्राज्यवाद-विरोधी दृष्टिकोण को अपनाया है और समता, शान्ति तथा न्याय पर आधारित

जिस नए विश्व की कल्पना की है, उसने इस रचना को देश तथा काल की सीमाओं से ऊपर उठा दिया है। यही कारण है कि आज तीन दशाब्दी बाद उसका प्रकाशन होने पर भी, भले ही उसका छन्द-विन्यास एवं भाषा कुछ पुरानी लगती हो, ऐसा आभास होता है कि पथिक जी आज भी अवशिष्ट साम्राज्यवाद को, युद्ध के खूँख्वार पशु को उसी वेग से ललकार रहे हैं और उसके प्रतिकार के लिए सत्य तथा अहिंसा का वीरतापूर्ण आदर्श हमारे सामने रख रहे हैं। इस सम्बन्ध में मौलिकता बरतते हुए भी वह देश की प्रमुख गांधीवादी धारा से कहीं विलग नहीं होते—

नहीं वीरता है, विबुधो ! वैरी का वध करने में,
है वीरत्व सत्य पर निर्भय डटे हुए मरने में !
सच्चा विजयी है न वह, जयी होकर जो आता है,
प्रत्युत वह, जो बिना झुके निज प्रण पर मिट जाता है।

कलिंगोत्तर अशोक की भाँति इन्द्र की चिन्ता आज दो महासमरों से पीड़ित अखिल मानवता की चिन्ता बन जाती है—

युद्ध नहीं कुछ धर्म-कार्य है, हिंसा नहीं प्रगति है;
स्वातंत्र्याश्रित सुरक्षार्थ ही बस उसकी अनुमति है !

इसी युद्ध के विरुद्ध समस्त संसार की नारियों—माताओं, बहनों व पत्नियों—को स्वर देती हुई हिरण्यकशिपु की रानी कहती है—

असुर-महिषी बोली, "सुरनाथ ! मुझे तो है यह दृढ़ विश्वास;
कि रखना प्राणिमात्र पर प्रेम, मात्र है धर्म, और परिहास !
अगर वश होता मेरा, प्रभो ! युद्ध करना मैं गिनती पाप;
द्वेष, ईर्ष्या, लालच को सदा मानती करुणाकर का श्राप।"

अब संयुक्त राष्ट्रसंघ की कल्पना देखिए गुरु बृहस्पति के शब्दों में—

निश्चय हुआ सभी देशों को आमंत्रण भिजवाना;
एक जगह सब राष्ट्र-समूहों के प्रतिनिधि बुलवाना !
भिन्न-भिन्न भाषा, आकृति वाले, विभिन्न देशों के;
भिन्न-भिन्न व्यवहारों वाले, भिन्न-भिन्न वेशों के;
राज्य, प्रजा, सबके प्रतिनिधि, विद्वान, वीर, व्यवसायी;
सबने मिल, थी विश्व-शान्ति की नूतन नीति बनाई।

और अंत में इन्द्र के शब्दों में नए विश्व का स्वप्न देखिए—

फिर, इस द्वेष-दग्ध जग में सुख का समुद्र लहराए;
फिर, जगत पर बन्धु-भाव की विमल चंद्रिका छाए !
फिर, मरुथल कूजित कुंजों, स्मित पुष्पों से भर जाएँ;
फिर, कोकिल, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की रागिनी सुनाएँ !
फिर, बल की पूजा उठकर हो सत्य, न्याय की चर्चा;
फिर, घर-घर में स्वार्थ छोड़ हो त्यक्ति-भक्ति की चर्चा !

काश ! यह रचना समय से प्रकाश में आ गई होती । कौन कह सकता है कि तब हिन्दी और विश्व साहित्य को पथिक जी से इससे भी श्रेष्ठ रचनाएँ न मिली होतीं ।

दैनिक हिन्दुस्तान,
नई दिल्ली ।

शरदेन्दु

प्रथम सर्ग

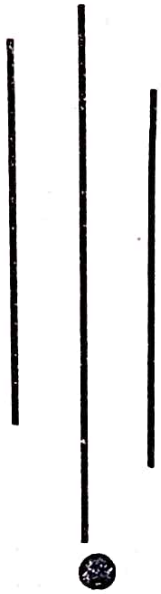

ग्रीष्म का प्रभात था, प्रपातपूर्ण पर्वतों से
घिरी इन्द्रपुरी थी, ज्यों रति इठला रही;
शची भवनों के चारों ओर लगे उपवनों में
थी मन्द गन्धित समीर लहरा रही !
अरुण के प्रेम-पगी सुमुखी प्रभा थी सुप्त
शिशु-सुमनों के कंठ गुदगुदी चला रही;
भीने-भीने कर कुसुमों के मुख फेर-फेर
आप हंसती थी, औ थी विश्व को हँसा रही !

देख इन अरुण-प्रभा की अठखेलियों को
मुग्ध सृष्टि भी थी यों मुदित मुसका रही;
मानो कल-नादिनी कलिन्वदा स्ववक्ष पर
देख रश्मि-नृत्य, हो न अंगों में समा रही !

या स्वभूमि भाग्य की निशा का अन्त आया देख
पुष्प-पंक्ति पुलक पराग हो लुटा रही;
अथवा कमल-राशि देख तम-नाश, नेत्र
खोले सर में हो हास्य-हिलोरें उठा रही !

ऐसे ही समय, प्रातकाल के नक्षत्र-सम
क्लान्त एक सैनिक पुरी की ओर आता था;
कभी पीछे देखता था, कभी निज धूल-भरे
वस्त्र, पद-बाहुओं की धूल झड़काता था !
बढ़ाता कभी था चौंक पैरों की प्रगति कभी
दृष्टि नभचुंबी दुर्ग की दिशा उठाता था;
कभी किसी चिंतनाभिभूत हुआ भूल जाता—
मानो यह भी कि किस ओर चला जाता था !

ऐसा ध्यान-मग्न था कि द्वारपाल के प्रणाम—
प्रश्न भी न सुने, धुन बाँधे चला जाता था;
ध्यान ही न था कि वन है या इन्द्रपुरी है यह,
आ रहा था कोई सामने, या नहीं आता था !
चला जा रहा था राजमार्ग के किनारे, किंतु
कल्पना का स्वप्न उसे जाने क्या दिखाता था;
जाने जगदीश ही कि पैर भी "पथिक" कैसे
ठीक-ठीक बाँधे हुए क्रम से बढ़ाता था !

देखते-ही-देखते सघन पुर-वीथियों में
पान्थ जान्हवी तरंग ज्यों विलीन हो गया ;
क्षण भर के लिए विचित्र मनोवृत्ति दिखा
द्वारपाल आदि को अचम्भे में डुबो गया !

मानो शून्य-चित्रित विचित्र सुर-चाप-श्रो को
भली भाँति देखने के पूर्व कोई धो गया;
या उड़ान-भरे जाता पक्षि पहचानने के
पूर्व ही ज्यों कूजित निकुंजों मध्य खो गया !

इसी समय सुर-सदन की, घन-गर्जन-गम्भीर—
तुमुल वाद्य-ध्वनि से, सकल गूंज उठीं प्राचीर !

फिर क्षण भर पश्चात् ही, देती समराह्वान;
रक्त-पताका दुर्ग पर भरने लगी उड़ान !

तत्क्षण सबकी दृष्टि दुर्ग की ओर जा लगी,
हृदयों में भय-शंकाओं की भीड़ आ लगी;
सभी लगे निज दृष्टि-विन्दु से अर्थ लगाने,
एवं अपने ही विचार को सत्य बताने !

सुरांगनाओं की सभा जगह-जगह जुड़ने लगी;
घर-घर में इस प्रश्न की ही चर्चा छिड़ने लगी !

उधर देवगण संध्यान्हिक का साज छोड़ कर,
चिंतित चंचल-चित्त नियत कृति-नियम तोड़ कर;
सज्जित हो निज पड़ोसियों का साथ बनाते,
अपने-अपने अनुमानों की कथा सुनाते;

दल-दल मिल सब दुर्ग की ओर समोत्सुक चल दिए,
ज्यों हों नदियाँ जा रहीं, सिन्धु-दिशा निज जल लिए।

दम भर में नन्दन-बन सुर-कान्तार बन गया,
पुष्पों तक पर दुश्चिन्तावत् क्षार जम गया;
सत्य जानने की सबको धुन लगी हुई थी,
सबही के मन में उत्सुकता जगी हुई थी !
अकस्मात् जय-घोष से नैश-नील नभ हिल उठा;
जिसे श्रवण कर सुरों का मुख-सरसिज-वन खिल उठा।

दिव्य तपस्वी-वेष, मन्द गति चरण उठाते,
पवित्रता की प्रभा दिशाओं में फैलाते;
कृपा-दृष्टि से सुधा-वृष्टि सबपर बरसाते,
नत होते सुर-शिर-सुमनों को शीश झुकाते;—
"क्षमा ! क्षमा !" की प्रतिध्वनि में मृदु मुसकाते हुए;
दीख पड़े गुरुवर-सहित निर्जर-पति आते हुए !

दम भर में सारी गड़बड़ काफूर होगई,
मानो सब उत्सुकता-चिन्ता दूर होगई;
प्रेम और श्रद्धा से सबका हृदय भर गया,
पंक्ति-पंक्ति में मानों मन्त्र-प्रभाव फिर गया !
सिंहासन के निकट आ, सुरपति सहसा रुक गए;
सम्मुखीन सुर-पंक्ति के सिर आदर से झुक गए !

सबको स्वस्थल बैठने का देकर आदेश;
घन-गंभीर, मृदु-कंठ से कहने लगे सुरेश !

"देवगण ! निश्चय होंगे आप समोत्सुक सुनने को वह हेतु;
बुलाया है सबको जिसलिए, दिखाकर विपत्ति का संकेत !

बात भी है ऐसी ही बन्धु ! तनिक-सी भी करने से देर;
कदाचित कर सकते हम न भावी में कुछ हेरा-फेर !
व्यर्थ है परिचय देना तुम्हें, 'इष्ट खर'[1] के असुरों का मित्र;
कर चुके हैं जो अपने आप कलङ्कित, काश्यप-वंश-पवित्र !

फिर वही हिरण्यकश्यप नृपति, साथ ले अगणित सैन्य समूह;
सजाकर कठिन समर के साज, बना शकटावृत सूची-व्यूह;
चोर की भाँति रात्रि के समय, आज है सीमा पर आ चढ़ा;
और अब इन्द्रपुरी की ओर चला आता है सत्वर बढ़ा;
इस तरह कल जिस सुरसरि-कूल सुरों का था मेला जुड़ रहा;
आज हैं वहीं अनय का चिन्ह, असुर दल का झण्डा उड़ रहा !"

आक्रमण की अरि के सुन कथा, भृकुटियां सुरगण की चढ़ गईं;
फड़कने लगे ओष्ठ, रद-पंक्ति स्वतः ही ओष्ठों पर बढ़ गईं !
तीव्र हो चली श्वास-गति, नयन क्रोध से कुंचित हो जल उठे;
हृदय के स्थिरतम कोमल भाव भी समुत्तेजित हो हिल उठे !
फड़कते हुए दीर्घ भुज-दण्ड स्वतः ही असि पर जाने लगे;
आक्रमण कर देने को स्वयं चरण मानो अकुलाने लगे !

शचीपति फिर बोले, "सुरवृन्द ! व्यर्थ है कहनी यह भी बात—
कि हिंसा विशेषतः नर-नाश, किसीके भी प्राणों का घात,
आदि हैं कितने अप्रिय-दुखद हमारे लिए सदा से रहे;
कौन से कष्ट हैं न जो इन्हें टालने को हमने हों सहे !
रहा है सुर-समाज का सदा सुनिश्चित लक्ष्य विश्व-उपकार;
विश्व में साम्य, सत्य, स्वातंत्र्य, शान्ति का फैलाना अधिकार !

१. 'इष्टखर'—हिरण्यकश्यप की राजधानी फारस में थी।

किन्तु प्रश्न है राष्ट्र की स्वतंत्रता का आज;
जीवित रह सकता नहीं खोकर जिसे समाज !

स्वतंत्रता है प्राण सृष्टि के शुभ कर्मों की,
स्वतन्त्रता है भित्ति भक्ति की, सद्धर्मों की;
स्वतन्त्रता है जीवन का जीवन चेतन में,
स्वतन्त्रता है शोभा की शोभा उपवन में !

स्वतन्त्रता ही विश्व में है, सुरगण ! सुरपुर-सुकृति;
स्वतन्त्रता ही ब्रह्म है, स्वतन्त्रता ही है प्रकृति !

स्वतन्त्रता ही उन्नति का पथ दिखलाती है,
स्वतन्त्रता ही सत्य-साधना सिखलाती है;
स्वतन्त्रता है जीवन को रहणीय बनाती,
स्वतन्त्रता है कर्मों को करणीय बनाती !

स्वतन्त्रता के साथ ही मनुष्य का मनुष्यत्व है;
स्वतन्त्रता ही सुरों को देती पद देवत्व है !

जो जन अथवा राष्ट्र-स्वशासन खो देते हैं,
वे जीवित ही जीवन से कर धो लेते हैं;
परवशता-विष उन्हें गिराता ही जाता है,
नीति-भष्ट कर क्षुद्र दासता सिखलाता है !

शौर्य, प्रेम, मानादि गुण, फिर उनमें मिलते नहीं;
सलिल-हीन सर में कभी स्मित-सरोज खिलते नहीं !

जो सुरगण परतंत्र होगए असुर-नृपति से,
तो समझो सुर-धर्म उठ गया विश्व-प्रकृति से ;
असुर-राज्य की भाँति सुरों को दे फिर शिक्षा,
दी जाएगी कुटिल असुर-दर्शन की दीक्षा !

हिंसा, व्यसन, विलास सब विहित बनेंगे सहज ही ;
असुरों के अन्याय से काँप उठेगी सुर-मही !

जाएगा अबोध सुर-शिशुओं को सिखलाया,
कि है असुरगण ने इस भू को स्वर्ग बनाया ;
और यह कि थे उनके पितु असभ्य अज्ञानी,
ध्येय बनेगा फिर उनका करना मनमानी !

भेद-भाव, गृह-कलह के सुर बन बैठेंगे सदन ;
पापी पाएंगे पदक, धार्मिक पाएंगे दमन !

अतः कहो, परवशता को स्वीकार करोगे ?
अथवा रण में अरि से लड़ते हुए मरोगे ?
बन असुरों के दास चरण उनके धोओगे ?
अथवा विजयी हो बलिवेदी पर सोओगे ?

देखोगे निज देश की स्वतंत्रता जाती हुई ?
अथवा अरि की सैन्य को शोणित में न्हाती हुई ?

क्या देखोगे तुम सुरपुर को शीश झुकाते ?
स्वदेश में ही पर के सम्मुख कर फैलाते ?
क्या पुष्पों में पली हुई ये सुर-बालाएं—
सुर-वृक्षों के सुमनों की सुन्दर मालाएं—

होंगी विवश विपक्ष की सेज सजाने के लिए ?
और देखते रहेंगे, हम सब सिर नीचे किए ?

"नहीं ! नहीं !" के शोर से, गूँज गया आकाश ;
सुरपति फिर कहने लगे, "सुर-सुवनो, शाबास !

धन्य वीरगण ! यही तुम्हारे योग्य बात है,
इस साहस के सम्मुख रिपु की क्या बिसात है ?
हो जाओ रण-सज्ज, आज निज बल दिखलादो,
मरना कहते किसे, शत्रु को यह सिखलादो !
बलि-वीरों की हाक से, आज उपग्रह-ग्रह हिलें ;
पद-पद पर रण-भूमि में शोणित नदियाँ वह चलें !

दिखलादो, यद्यपि हैं हम सब शान्ति-उपासक,
नहीं चाहते बनना हम औरों के शासक ;
यद्यपि हममें हर गृहस्थ सबसे स्वतंत्र है,
यह स्वतंत्रता ही सुरपुर का राज्यतंत्र है ;
तदपि तंत्र-रक्षार्थ हम एकतंत्र अधीन हैं;
हैं प्रशान्त, उतने अधिक ही हम युद्ध-प्रवीण हैं !

दिखलादो जिस भाँति हमें सहना आता है,
घोर शत्रु से भी मिलकर रहना आता है ;
प्रेम-न्याय के सम्मुख हम जिस भाँति फूल हैं,
सज्जनता के सम्मुख ज्यों हम चरण-धूल हैं ;
उसी तरह दासत्व के लिए प्रलय की ज्वाल हैं ;
स्वतंत्रता के शत्रु के दुर्जय काल-कराल हैं !

जाओ, सजकर नगर-द्वार पर सब आजाओ,
सावधान हो निज सेना का व्यूह बनाओ ;
मैं गुरुवर के सहित तुम्हारे साथ चलूँगा,
बुड्ढा हूँ, परन्तु रण में तो प्रथम बढ़ूँगा !
आज देखना है समर में किसका लोहा चले ;
खबरदार, कोई युवा आज न घर सोता मिले !

उठो, चकित देखें असुर, देखे सब संसार ;
कि हैं दबे इस शान्ति-सर में भी प्रलय-अँगार !

उठो, सिंह ज्यों शर खाकर सम्मुख आता है,
ठोकर खा जिस तरह सर्प फन फैलाता है ;
चढ़ो, जिस तरह पावस-घन घिरकर आते हैं,
गर्जन कर पाषाण-हृदय तक दहलाते हैं !

जाने अरि, जाने जगत, शौर्य सुरों का सुप्त था ;
शान्ति-प्रेम से नहीं वह हुआ सर्वथा लुप्त था !"

उठे सभी, जय-घोष से गूँज गया नभ-देश ;
भरा रौद्र-रस प्रति-हृदय, मानो खिजे महेश !
चले सभी, कर इन्द्र को प्रेम-सहित प्रणिपात ;
जितने मुख उतनी नई लगीं निकलने बात !

दूसरे ही क्षण घर-घर में सुरांगनाएं,
हँस-हँस निज पति-सुतों को सजाने लगीं ;
वीर-वेष-भूषा, शिरस्त्राण, वज्र-वर्म्म आदि
प्रेम-प्लुत-पुलकित हुई पहनाने लगीं !
परिघ प्रचण्ड, असि, बाण-धनु, तोम-
रादि कर-कर स्वच्छ, मुद सजाने-बँधाने लगीं !
वीर धर्म, वीर कर्म, वीर-कुल-कान-आन,
मान, बलिदान की कथाएं गा सुनाने लगीं !

ग्राम-ग्राम में फिर गए, चर ले यह सन्देश—
"स्वतंत्रता रक्षार्थ रण-साज सजे सब देश !"

देखते ही देखते विशाल इन्द्रपुरी-द्वार
बाँके रण-शूर सुर-सैनिकों से भर गए;
बूढ़े, युवा, बाल, बलहीन, बलवान सभी
आज रण-रंग रँगे शस्त्र ले सँवर गए!
अश्व, गज, यान, पद-सैन्य का प्रवाह चला,
भीड़ देख भीत वायुदेव भी ठहर गए;
चम्पक, चमेली कचनार कुन्द कलियों के
धूल भरे मुख मानो भीति से उतर गए!

आगए सुरेश भी हिमाभ्र श्वेत कुंजरों की
सैन्य लिए सैनिकों का साहस बढ़ाते हुए;
सप्त शुण्डवाले ऐरावत-अँबारी में से
मानो रौद्र-रस की सुवृष्टि बरसाते हुए!
कूच चतुरंगिणी चमू ने कर दिया दृढ़
व्यूह रच, विविध पताकाएँ उड़ाते हुए;
नील नभोदेश मध्य भालों की उठाए अनी
मानो दीप-शिखाओं की वीथियाँ बनाते हुए!

गूंज उठे क्षण में गगन, गिरि-शृंग, गुहा,
जय घोषणाओं से मुदित सुर-बालों की;
भर गई भुवनों में गजों की गँभीर ध्वनि,
शङ्खनाद-युत झनकार करवालों की!
क्रुद्धा की भृकुटि-सम कुटिल कमानें लिए
क्रोधभरी गर्जना समर-मतवालों की;
भूमि, नभ, वायु को कँपाने लगी इस भाँति—
मानो चमू चढ़ी हो प्रलय-घन-मालों की!

जा रहा था सैन्य या था जान्हवी प्रवाह, शस्त्र
ही थे या थे तारे तरंगों में नृत्य करते ;
गज थे या दौड़े जा रहे थे गिरि-खण्ड, रथ
थे या सुरों के सदन थे उड़ान भरते !
उमड़े थे नीर-क्षीर-निधि साथ-साथ, या थे
मेरु और विन्ध्यवन मुग्ध हो विचरते ;
भाले थे या ज्वालामुखी-जिह्वा के समूह छिपे
धूम्र में असुर-वनों के लिए थे फिरते ?

छाई धुन्ध, शीश गिरि, वृक्षों के अदृश्य होने
लगे, और पैर दृष्टि के डगमगाने लगे ;
श्वास बन्द हो चला विवृत्त वृक्ष-श्रेणी का भी
शून्य और भूमि मानो मिल-मिल जाने लगे !
प्रातःकाल ही में सूर्य अस्त होगया, चकोर
चन्द्रमा के लिए दृष्टि शून्य में फिराने लगे ;
भ्रम-भूले निशानाथ भी नक्षत्र-सैन्य लिए
फिरा निज यान पूर्व दिशा में बढ़ाने लगे !

उधर जयन्त जयनगर-निज श्वसुरालय के उपवन में;
जया-सहित बैठा था मणिमय रंगभवन आँगन में,
सान्ध्य समीरण सान्ध्य कणों से, पुष्पों के परिमल से,
सलिल फुहारों की शीतलता से, चन्द्रिका-विमल से,
शीतल और सुगन्धित बन, दम्पति आनन्द बढ़ाता ;
टहल रहा था, चन्द्र-रश्मियों के गुदगुदी चलाता !

जयन्त बैठा गृह-यात्रा की बातें सुना रहा था ;
प्रातः कब, किस विधि, सुरपुर चलना, यह बता रहा था !
बता रहा था, कितने वाहन उनके साथ चलेंगे ;
कहाँ-कहाँ रुकना होगा; सब कितने दिवस लगेंगे !

कौन-कौन से दर्शनीय थल वे पथ में देखेंगे ;
किस-किसके सम्मान्य अतिथि बनना स्वीकार करेंगे !

जया पड़ी-पड़ी शशि-स्वामि मुख बार-बार
देख मानो चन्द्र को कुरूप ठहरा रही थी ;
कभी करती थी पति से अलाप, कभी मूर्ख
मच्छरों के मात्सर्य पर झुँझला रही थी !
दीप तज, चन्द्रमुख घेरते पतंगों पर
कर-कर रोष दोष दैव को लगा रही थी ;
कभी मुख खोलती थी, बिजन झलती थी कभी,
कभी अँगड़ाई लेती मानो अलसा रही थी !

ऐसा ही समय भीति-भरे सौख्य-सम, मानो
इस रस-रास में ही विष घोलने के लिए ;
देव-सभा - प्रेरित, सुरेन्द्र-पत्र लिए हुए
दूत आने के एक सखी ने समाचार दिए ।
"यहीं बुलालो उसे," कहा जयन्त ने सत्वर,
और दूत आ ही खड़ा हुआ शिर नत किए ;
पत्रिका ले, खोल, पढ़ने लगा जयन्त, जया
देखने लगी अवाक् चिन्तनाभिभूत-हिए !

उधर लगा ज्यों-ज्यों जयन्त सम्वाद पत्र के पढ़ने ;
त्यों-त्यों लगे भाव नव उसके मुख-मण्डल पर घिरने !
पढ़ते-पढ़ते, "अकस्मात् छलपूर्वक अरि का आना ;
तटस्थ सुर-ग्रामों पर निर्दय अत्याचार मचाना !"
कभी क्षोभ से, कभी घृणा से उसका मन भर जाता ;
कभी चढ़ाता भृकुटि, कभी वह दशनों अधर दबाता !

देख-देख यह जया-हृदय में उत्सुकता बढ़ती थी ;
रह-रहकर प्रश्नों की मन में आँधी-सी चढ़ती थी !
किन्तु न होता था साहस कुछ जयन्त से कहने का ;
समझ रही थी, निश्चय कुछ कारण है चुप रहने का !
इसी समय सुर-पति-नन्दन ने ऊँची दृष्टि उठाई ;
किन्तु न थी यह वह, जिसने थी शशि को हँसी सिखाई !

भरे हुए थे इसमें नूतन विविध भाव भूतल के ;
घृणा-क्रोध के, अमित क्षोभ के, मन की उथल-पुथल के !
स्निग्ध भावना, मुग्ध भावना, हँसी हँसाने वाली ;
वह परिमल-सी दृष्टि हृदय-अलि को उलझाने वाली ;
सब वे ही थीं, फिर भी थी सबमें कुछ नूतन लाली ;
मधु के धोखे ज्यों रागी ने पी ली हो मद प्याली !

अस्तु, फ़िर सभी वृत्त जया को जयन्त ने समझाए ;
सुनकर जया-हृदय में भी ज्यों क्रोध पटल आ छाए !
बाल-सूर्य-सम तमक उठा वह हसित-कमल-मुख क्षण में;
दमक उठी मानो दामिनि हिम-गिर के शुचि प्रांगण में !
जयन्त ने फिर चर से सेना की सब गति-विधि जानी ;
और स्वयं सीधे समरांगण में जाने की ठानी !

श्वसुरालय में भेज दिया लिख जयन्त ने सब हाल ;
और वहाँ हो चली तयारी तदनुकूल तत्काल !
सेना, वाहन, रथी आदि सब लगे सजाने, सजने ;
पैरों में गुदगुदी चलाते, लगे वाद्य-रण बजने !
लगी जया भी सोत्साह निज पति को साज सजाने ;
सजा-सजाकर स्वयं देख फिर दर्पण उन्हें दिखाने !

मंजुल वसनों पर सजा, वज्र-कवच छवि-वन्त ;
नव-वसन्त-तन पर झुका मानो रौद्र अनन्त !

बना वीर वेश, कुछ भी न रहा शेष, तब
अनिमेष दृष्टि से सुधा-सी बरसाती हुई ;
उमग बढ़ाती, भय-चिन्तना भगाती दधि-
तिलक लगाती बोली, जया मुसकाती हुई—
"देखना, न कहीं लोक कहें, ये जया के पति
की है सेना आ रही बिना ही जय गाती हुई;
शीघ्र ही दीजिएगा वह शुभ अवकाश जब
करूँगी मैं आरती न अंगों में समाती हुई !

फिर अक्षत-केशर-तिलक, लगा प्रेम के साथ ;
बोली "गणपति स्मरण कर, सिद्धि कीजिए नाथ !

"जाओ देव, सत्य यदि मेरा है विमल तो न
रोम को भी आपके कदापि आंच आएगी ;
मेरी प्रीति-पगी शक्ति आपकी सशक्त बन
इस असि को ही चल-चंचल बनाएगी ।"

बाहुपाश चाँप जया को जयन्त ने भी, कहा—
"यह प्रीति ही तो मेरा साहस जगाएगी ;
चिन्ता मत करो, जय के बिना जयन्त देह
प्रिये ! रण से न पद रंच भी हटाएगी !

कृपा कमलेश की हुई तो आज काश्यपों से
प्रतिशोध सारी कूट चालों का चुकाऊँगा ;
उनकी लगाई ज्वाल गृहों में लगी है
या है हृदयों में सुरों के लगी, यह दिखाऊँगा !
शपथ तुम्हारे इस पुण्य से पवित्र प्रिय
प्रेम की है, प्रिये, इस प्रण को निभाऊँगा ;
या तो स्वर्ग-भूमि में से उठेगा जयन्त नाम,
या चरण-चिन्ह शत्रुओं का मैं मिटाऊँगा !"

कह, आलिंगन कर, जयन्त ने चाहा बाहर जाना ;
किन्तु नयन ने, न कर-पदों ही ने कहना माना !
मिली दृष्टि से दृष्टि मन स्पन्दन-गत हो गति भूले ;
कमल, देख रवि को ज्यों धृत-अलि-भूल, रह गए फूले !

स्तब्ध हो रहे क्षणिक दम्पत्ति जहाँ के तहाँ,
मानों रुद्र गौरी को हों कण्ठ लिपटाए हुए ;
अथवा अरुण-अरविन्द-वन छिपे शशि
को, हों कुंज मध्य, रवि-हृदय लगाए हुए !
इसी क्षण कान रथ-चक्र घोर पड़ी, सुन
दोनों पाश मुक्त हुए हृदय दबाए हुए ;
दृष्टि ही से निज मनोभाव समझते, निज
बात दुहराते, वाक्शक्ति को गँवाए हुए !

उठे अचानक मनों में दोनों के कुछ भाव ;
किन्तु गिरा को था कहाँ, यह स्वीकार विभाव ?
वाणी-गत थिर हो रहे, यों दोनों दृग साध ;
शिथिल दृष्टि ही ने दिया, हो ज्यों युग दृढ़ बाँध !

अन्त में साहस करके, जया लगी कहने, "निश्चय ही नाथ ;
आपने यह वीरोचित पैज ठान है रखली मेरी बात !
हो गया आज जया का प्रेम, नाथ, कृतकृत्य, प्राप्त कर मान ;
करेंगे निश्चय यह प्रण सफल, भक्त जन के रक्षक भगवान !
अन्यथा रहें आप निश्चिन्त, जानती हूँ मैं भी निज धर्म;
शत्र से लेना पति-प्रतिशोध, ग्रहण कर खंग, धार तनवर्म !
दिखाना जग को, अबला हैं न, नारियाँ समर-भूमि के लिए ;
भूमि गिरते उनके शर नहीं, बिना अरि का हृद-शोणित पिए !
और यह न हो तो मुझे ज्ञात है वियोगान्तक अन्तिम धर्म ;
उलट विधि-विधि, जाना पति संग, हमारा है साधारण कर्म !
कौन है जो इच्छा-विपरीत कर सके साथ हमारा भंग ?
प्रेम के पक्के रँग पर चढ़ा सके कृत्रिम जीवन का रंग ?"
कण्ठ गद्गद् यह कहते हुए जया ने पति-पद किया प्रणाम ;
द्रवित हो जयन्त ने भी कहा, "करेंगे सब शुभ लीला-धाम !
न चिन्ता करना कुछ भी प्रिये, सुरों की निश्चय होगी विजय ;
सत्य के सम्मुख कितनी देर ठहर सकता है निर्बल अनय !
अस्तु, अब विदा करो, सारथी खड़ा है रथ को लिए तैयार ;
निरन्तर शंख बजाते हुए, कर रहे हैं सैनिक हुँकार !"
जया बोली, "हाँ, कीजे सिद्धि ! अलविदा !" फिर हँस किया प्रणाम ;
चला, कह जयन्त भी अलविदा हृदय में धर वह मूर्ति ललाम !

द्वितीय सर्ग

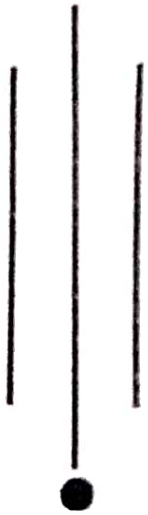

असुर सैनिकों ने उधर पा सूना मैदान;
कई प्रदेशों को किया मन भरकर हैरान !

प्रलय-वह्नि की तरह असुरदल फैल गया ग्रामों में;
एक ओर से आग लगा दी सुखमय सुरधामों में !
देव-स्थान भ्रष्ट कर, धार्मिक ग्रंथ नष्ट कर डाले;
जलते हुए गृहों से शिशु, कृषि-पशु तक नहीं निकाले !

फिर जो भागे उनको तलवारों के घाट उतारा;
घूज उठा क्षण में सुर-सीमा का वह प्रान्तर सारा।

आग लगाई गई वनों में, आया ज्वार प्रलय का;
आर्त जनों के लिए कहीं रह गया न ढँग आश्रय का !

वनचर, नभचर तक ले निज-निज प्राण चतुर्दिक भागे;
विकल श्रान्त शिशु, अबलाओं ने गिरि, वन, तरु तक त्यागे !

वन-वन दावानल बढ़ी, छाया क्षिति पर त्रास;
लगे शून्य में अग्नि कण करने नखत-विलास !

क्रोध के उफ़ान, महाप्रलय-विमान सम
धूम्र-घन घिरे वन, शून्य मध्य छाने लगे;
तमस बढ़ाते, घन-घटाएँ-सी छाते,
दृष्टि निष्क्रिय बनाते और विपति बढ़ाने लगे !
भीत सभी प्राणी अन्ध-जैसे, भ्रम-भूल ज्वाला
ही की ओर घूम-घूम भागे-उड़े जाने लगे;
और दुष्टता के दास दस्यु देख-देख यह,
अट्टहास द्वारा भूमि-शून्य को गुंजाने लगे !

मचा हाहाकार, रहा दुखों का न पार,
गृह, वन, उपवन वन क्षार के सदन गए;
प्रेम के पयोद सुज्ञ सभा के विनोद थे जो,
आज छा उन्हींके शीश शोक-दुख-घन गए !
तैरते थे सौख्य सिंधु मध्य अरविंद-सम
कल, वन आज वे ही अन्ध भिक्षु-जन गए;
करते थे मुग्ध जो स्निग्ध प्रभा को भी तरु,
वे हो आज दग्ध वन भीति के भवन गए !

अस्तु साँझ तक यों असुरों ने शोणित-फाग मचाई;
जिधर गए उस ओर नाश की आँधी प्रबल उठाई।
कौन कहे, कितने उस दिन बरबस सो गए सदा को;
कितनों के कर, पद, रद, कुल-दीपक खो गए सदा को!
कितनों ने स्वेच्छा ही से यह आँख-मिचौनी छोड़ी;
जीवन-डोर तोड़ इस जग से, जगत-पिता से जोड़ी!

कौन कहे, यह आग लगी थी सुर ग्रामों-कुंजों में;
या सुरगण-हृदयों में रक्षित तीव्र भाव-पुंजों में!
इन निर्दय वारों ने था कतिपय को विवश सुलाया;
अथवा सारे स्वर्ग-राष्ट्र को आधी रात जगाया!
कौन कहे, वह धुंआं लगा था कुछ ही की आँखों में;
या उसने धधका दी थी वह प्रलय-ज्वाल लाखों में!

असुर कह रहे थे हँस-हँस, "क्या शुभ अवसर आया है;
कैसे बिना हानि ही हमने स्वर्ग-राज्य पाया है!
अब सुरगण का साहस क्या, जो हमसे युद्ध करेंगे;
अजी शाक-भोजी क्या हम असुरों से लोहा लेंगे!
किन्तु पता था किसे, विधाता को क्या कृति प्यारी है;
भविष्य-पट के पीछे किस अभिनय की तैयारी है!

अन्त, सैन्य सब सान्ध्य समय चल जयन्त सर-तट आए;
सर-तट के सुन्दर उपवन की छटा देख ललचाए।
असुर-राज ने भी आज्ञा दी, "यहीं पड़ाव लगाओ;
आज इसी उपवन में सब सेना के शिविर तनाओ।"
फिर क्या था, सुर-वन में अरि की ध्वजा लगी फहराने;
लगे असुरगण नगर रूप में शिविर, वितान तनाने।

इसी समय कुछ गुप्तचरों ने आ, सम्वाद सुनाए—
"भीति-ग्रस्त सुर भाग रहे हैं डेरा-डाँड उठाए।
सात-सात योजन तक सुर-सेना का पता नहीं है;
खबर आक्रमण कीं भी पहुँची केवल कहीं-कहीं है!

सुर-सैनिक जितने थे, प्रायः हैं सब मार गिराए;
और पड़े हैं, बन्दी-गृह में, थोड़े बचे-बचाए!

पहुँचे हैं न अभी तक तो सुरपुर सम्वाद हमारे;
फिर भी बिठा दिए हैं सारे नाकों पर हरकारे।"
फिर क्या था, निश्चिन्त भाव ने निज प्रभाव फैलाया;
नृत्य-गान ने, मद्य-पान ने मनभर रंग जमाया!

कहीं हास्य के, कहीं गान के, लगे फुहारे छुटने;
कहीं कुरुचि के, कहीं कुकृति के, लगे खजाने लुटने!

उस ओर असुरपति भी भरकर विजयाभिमान में मुसकाता;
निज रत्न-खचित सुन्दर वितान में आकर बैठा, इठलाता!
सेनापति गण आ लगे दिवस-भर के सारे वृत बतलाने;
निज-निज दल की कृतियों को रँग-रँग विविध रँगों में दिखलाने!

"सब थल सुरगण ही दोषी थे, और असुर निर्दोष;
किया सुरों ने ही जागृत था असुर-दलों का रोष!
ग्राम-ग्राम में युद्ध हुआ, फिर असुरों ने जय पाई;
और पराजित सुरगण पर देवोचित दया दिखाई!"

पैशाचिक मृदु हास्य सहित, सब लगा असुरपति सुनने;
प्रलय-मेघ ज्यों नष्ट गृहों को लगा मुदित हो गिनने!

मुन सब बातें, फिर दलपतियों का उत्साह बढ़ाता;
उनकी कृतियों पर हर्षित हो, प्रसन्नता दिखलाता;
बोला, "जाओ लो विश्रान्ति, मनभर आनन्द मनाओ;
जिस सैनिक को जो आवश्यकता हो वह दिलवाओ।
प्रातः उषा-काल में है, सुरपुर को कूच कराना;
और इन्द्र के नन्दन-वन में ही है शिविर तनाना।"

सुन दलपतिगण खड़े हो, कर सस्नेह प्रणाम;
गए विदा ले निज शिविर, करने को विश्राम !

किन्तु भाग्य की बात, वहाँ थी हुई न मन की चाही;
आ पहुँचे देवर्षिपुरी से लौटे हुए सिपाही !
उनका दलपति सुरथ लगा आ अपनी कथा सुनाने;
एक-एक कर दिनभर की सब घटनाएँ गिनवाने !
बैठ गया असुरेश भी वहीं निज आसन बिछवाकर;
और लगा सुनने चित देकर उसकी कथा सविस्तर !

लगा सुनाने दलपति भी मुद असुर-युद्ध की बातें;
कहाँ-कहाँ किस-किस विधि उनकी सफल हुई थीं घातें !
किस प्रकार असुरों ने सुर-गृह भस्म किए औ' लूटे;
किस प्रकार किस-किस थल के थे सुदृढ़ मोरचे टूटे !
सुन असुराधिप मुख पर भी प्रसन्नता आ छाई;
एवं दलपति-दिशा हसित मुख उसने दृष्टि उठाई !

किन्तु इसी क्षण युद्ध की एक बात की याद,
आने से मुख हो गया दलपति का सविषाद !

कम्पित स्वर-पद, नत-नयन, वाणीगत हत-ज्ञान;
खड़ा रह गया वह अचल, प्रस्तर-मूर्ति समान !

देख असुरपति ने भी पूछा कारण घबराने का;
कहा, "कहो, कुछ काम नहीं है इस क्षण भय खाने का !
रण है, जहाँ लाख बातों में अरि परास्त होते हैं,
वहाँ क्वचित निश्चय ही हम भी निज सैनिक खोते हैं !"

दलपति आश्वासित हो बोला, "देव, युद्ध में सारे;
एक स्थान पर ही हैं असुरों के सेनानी हारे !
है उसका भी दायी मेरा सहचर ही वृषदन्त;
जिसकी कीर्ति-कला से पूरित हैं आमर्त्य दिगन्त !

सुन आवेग और अचरज से मानो अस्थिर होकर;
क्षणभर देख चमूपति का मुख, फिर निज धैर्य सँजोकर;
कहने लगा असुरपति, "क्या दलपति, यह भी है संभव ?
कि है हुआ वृषदन्त सैन्य का ऐसी जगह पराभव ?
नियमित युद्ध न था यह, था निःशस्त्र सुरों से लड़ना;
निर्भय गृह-कार्यों में रत ग्रामीणों पर जा पड़ना।"

दलपति बोला, "देव, एक था इसका हेतु विशेष;
भेजा गया उसे था करने जय देवर्षि-प्रदेश !

किन्तु हैं लोक वहाँ कुछ अजब ढंग के तथा साहसी वीर;
अतः थे यद्यपि वहां न दुर्ग, न गिरि, वन, न ही सुदृढ़ प्राचीर ;
तदपि बालाएँ, बालक, वृद्ध, युवा—सब मरने को आ डटे;
लोथ-पर-लोथ पड़ गई किन्तु न पीछे तिल भर भी वे हटे !

बात थी फिर इस रण में एक अश्रुत-कृत, अद्भुत और नवीन;
वार वे हम पर करते थे न, और तजते थे निज हठ भी न !

बहुत समझाया, मत बन मूर्ख करो निज धन-जन का बलिदान;
शस्त्र लेकर या तो रण करो, या करो असुराज्ञा सम्मान !
किन्तु बोले वे, 'प्राणीमात्र हमारे तो हैं बन्धु-समान !
किस तरह कर सकते हैं भला, हम किसीके प्राणों की हानि ?
हाँ न झुकना अनीति से कभी, सत्य पर दृढ़ रह देना प्राण ;
हमारा है प्रधानतम धर्म, धर्म पर हो जाना म्रियमाण !

अतः है विजय हमारी यही कि जीवित रहते तजें न धर्म ;
बनादें बलिदानों से व्यर्थ तुम्हारा पशुबल, कौशल-कर्म !
चाहते नहीं और के उचित स्वत्व पर करना हम अधिकार ;
किंतु तजने को अपने स्वत्व भी नहीं हो सकते लाचार !'
कह सभी पथ में आ डट गए, न की मरने की कुछ परवाह ;
सैकड़ों काट गिराए गए, तदपि उनका न घटा उत्साह !

दृश्य था वास्तव में वह प्रभो, बड़ा ही करुणापूर्ण, विचित्र ;
देखकर हो जाता था उसे, पाप तक मानो स्वयं पवित्र !
सुमन से मृदुल तनों में वज्र-सदृश वह दृढ़ता, साहस, शक्ति ;
सत्य पर, विश्व-प्रेम पर अटल, अतुल निर्मल हिमगिरि सम भक्ति !
बाल-अबलाओं तक में एक सदृश बलि होने का उल्लास ;
मृत्यु-शय्या पर भी व्रण-पूर्ण-मुखों पर वही प्रेममय हास !

एक के गिरते ही तत्काल, दूसरे का आ जाना वहाँ ;
देख जाती थीं रिपुता और क्रूरता चली न जाने कहाँ ?

कौन था फिर जो उनपर हाथ छोड़ता, बना हृदय पाषाण ?
इसीसे दयार्द्र होकर फेंक दिए वृषदन्त ने धनुष-वाण !
अन्य सैनिक भी करने लगे, मारने से उनको इन्कार ;
अतः पीछे हट आना पड़ा, सभीको उस थल से लाचार !"

पर असुरपति को सुन यह कथा, दया के स्थल पर आया क्रोध;
स्वार्थ-प्रिय को भाता है कहाँ उचित-अनुचित का भेद-प्रवोध !
क्रूर के लिए प्रेम है मोह, दया कायरता, क्षमा अनीति ;
सत्य-सम्मुख झुकना अज्ञान, सरलता मूर्ख जनों की रीति !
जानता फिर वह किस विधि सुरथ-कथित वृषदंत-गुणों का मोल ?
तुला ही न थी वहाँ वह, बुद्धि सत्य को जिस पर सकती तोल !

साथ ही था इस कृति को उचित मानना, करना यह स्वीकार;
कि उसकी नय तो है ही अनय, यह समर भी है अत्याचार !
और यदि असुर भूल निज तुरत इस तरह से करले स्वीकार ;
तो सुजन एवं दुर्जन मध्य भेद ही क्या पाए संसार ?
अतः वह वोला, "बस-बस ! वहुत हो चुका कायरता-गुण-गान ;
जान पड़ता है इस षड्यन्त्र मध्य हो तुम भी लिप्त समान !

और अव इसीलिए वृषदन्त की अराजकता को दे रंग ;
चाहते हो रचना कुछ उसे वचा लेने का नूतन ढंग !
उपस्थित करो इसी क्षण उसे हमारे सम्मुख लाकर यहीं ;
उपेक्षा की जा सकती कभी इस तरह के दोषों की नहीं !"
सुरथ सुन उदास होकर उठा, और भय-चिन्ता करता हुआ,
मित्र के अनिष्ट का कर ध्यान, कल्पना से भी डरता हुआ ;

गया, एवं जाकर वृषदन्त से कहा असुर-कथन का सार ;
किन्तु वह तो बैठा था प्रथम ही हुआ मरने को तैयार !
आज के दृश्यों का था हुआ हृदय पर उसके अजब प्रभाव ;
हो रहा था मानो उद्भ्रान्त, भूल वह अपना सरल स्वभाव ।
जानता था फिर वह, है कठिन असुर से पाना न्याय उदात्त ;
अतः बोला, "तो भय क्यों ? चलो, किया ही है क्या मैंने तात ?

जान जब गया मैं कि हम धर्म मान हैं भूल कर रहे पाप ;
धर्म ही था तब मेरा तुरत भूमि पर रख देना शर-चाप !
चलो, सच कहने में क्या भीति ? करेगा क्या वह, लेगा प्राण ?
सत्य पर मरना भी है श्रेष्ठ, पाप करके पाने से त्राण !
किए हैं कितने ही दुष्कृत्य, साथ लग इसके द्रव्य-निमित्त :
आज है करना मुझको उचित अभय हो उनका प्रायश्चित्त !

देखे जग यदि स्वार्थ पर देते थे हम जान ;
तो देते हैं धर्म पर भी हँसकर ही प्राण !
थे न स्वार्थ-प्रिय इसलिए हम कि कठिन था सत्य,
प्रत्युत् हम थे सत्य से अज्ञ और अघ-भृत्य !"

फिर बोला, "अब तक त्रुटि कर भी इतना है सन्तोष ;
कि है किया न जानने पर मैंने फिर कोई दोष !
सदा रहा हूँ मैं निज विश्वासों के ही अनुसार ;
जब जो भूल जान पाया तब ही कर लिया सुधार !"

गुरुथ सोचने लगा, "सत्य में भी है कैसी शक्ति ?
पाणि-ग्रहण समझने लगता है मरने को व्यक्ति !

जहाँ पापियों को लगता है भय कर्मों के फल का ;
वहाँ-सत्य प्रेमी को होता है विश्वास सुफल का !"

सुरथ संग वृषदन्त असुरपति-सम्मुख आया ;
देख क्रुद्ध असुराधिप ने भी शीश उठाया !
किन्तु हुआ वह चकित देख वृषदन्त मुखाकृति ;
टपक रही थी जिससे निर्भयता, अविचल धृति !

उसके मुख पर चिन्ह भी न था ताप-परिताप का ;
बैठा था वह सिंह-सम ले आश्रय निज चाप का !

अस्तु असुरपति ने पूछा उससे कटु स्वर में—
"कहो, किस तरह हुए पराजित आज समर में ?
क्या बचाव देते हो तुम निज कायरता का ?
सुरगण के सम्मुख दिखलाई पामरता का ?

अबलाओं से हारते क्या लज्जा आई नहीं ?
यदि हारे तो क्यों वहीं हीरकनी खाई नहीं ?"

पर बोला वृषदन्त, "मुझे भय है न ताप है ;
न ही किया मैंने कोई अक्षम्य पाप है !
नहीं पराजय पाई है मैंने पशु-बल से ;
न ही हार खाई है अरि के छल-कौशल से !

हारा हूँ तो सत्य से, जो आत्मा का पर्व है ;
और मुझे इस हार पर प्रसन्नता है, गर्व है !"

सुन हिरण्यकश्यप सभ्रम, कहने लगा सरोष—
"इतने पर भी गर्व है, होने का निर्दोष ?

इसका तो यह अर्थ है कि है भीति वीरता ;
और घृणित कायरता का है नाम धीरता !
निश्चय तू वृषदन्त, आज हो रहा भ्रमित है ;
या हो बैठा किसी मंत्रवश ज्ञान-रहित है ।"
ऐसा न हो कि यह तुझे बिना मृत्यु ही मार ले ;
अतः भला हो, भूल यह यदि तू यहीं सुधार ले !"

पर बोला वृषदन्त, है यह अनुचित अनुमान ;
न तो भ्रमित है चित्त मम, न है हृदय अज्ञान !

बात यह थी कि वीरता में छिपा आज तक
भीरुता का भूत मेरी बुद्धि को भ्रमाए था ;
और धर्म रूप धरे धूर्त-स्वार्थ, क्रूरतादि—
का पयोद मेरे ज्ञान-सूर्य को छिपाए था !
मोह, अभिमान और लोभ का अँधौटा मुझे
अन्ध बना अनाचार-पाश में फँसाए था ;
सत्य को असत्य; पाप प्रेम को, दया को दोष
दिखाने का मंत्र मुझे विसुध बनाए था !
किन्तु आज देख दिव्य शक्तियों की भक्ति-त्यक्ति,
द्वेषहीन क्लेश भोगने के धमासानों को ;
शत्रु में भी मित्र और पाप में पवित्र भाव
देख-देख होने वाले दिव्य बलिदानों को !
सुन-सुन वीरता, सुधीरता, गँभीरता के
सत्य-प्रेम भरे बाल वीरों के तरानों को ;
टूट अज्ञता के बन्ध, छूटे हैं छलों के फन्द,
देख लिया मैंने है स्वभूलों की खदानों को !

आज जान पाया वीर-धर्म का रहस्य हूँ मैं,
आज जाना है कि युद्ध धर्म नहीं, पाप है ;
घात, प्रतिघात, रक्तपात नहीं, धैर्य, सत्य-
युक्त दृढ़ता ही वीरता का ठीक माप है !
और स्वार्थ या अधर्म-पक्ष के सिपाही बन
रक्त बहाना तो नर्क का कृति-कलाप है ;
ऐसी क्रूर शक्ति का समूह वरदान नहीं,
विश्व के लिए विक्षुब्ध देवतों का श्राप है !"

सुन असुवेश हो अधीर बोल उठा, "बस,
बुद्धिहीन, बन्द कर व्यर्थ बकवाद को ;
व्यर्थ है प्रयत्न, विपरीत विज्ञता से ढँक
सकता नहीं तू राजद्रोह अपवाद को !"
बोला वृषदन्त, "राज्यद्रोह नहीं, पाप-द्रोह
है यह, द्रोह नहीं, है चुनौती धनवाद को ;
मैं न भाग लूँगा अब आप की अनीति मध्य,
व्यर्थ है बढ़ाना एतदाधिक विवाद को !"

नहीं विजय है यह पशुबल की केवल भौतिक तन पर ;
जिसका बन्दी स्वतंत्र हो फिर तुल जाता है रण पर !
जो केवल प्रतिशोध, द्वेष को उत्तेजन देती है ;
शान्ति सदा के लिए युगल-पक्षों की हर लेती है !
और न स्थित है मेरा निर्णय स्वार्थ-भित्ति, भ्रम, भय पर ;
नृपति, विज्ञता, भीति, शक्ति सकती हो जिसका क्षय कर !

सत्य, प्रेम की विजय जमाती है मन पर अधिकार ;
काट नहीं सकते जिसके बन्धन को कुलिश-कुठार !"

सुन यह आग लग गई मानो असुरराज के तन में ;
बोला, "अभी तुझे दो टुकड़े करवा दूँगा क्षण में !
है कुछ ज्ञात, सामने किसके बातें बना रहा है ?
किसको अपने अधम गर्व की गाथा सुना रहा है ?"

किंतु हुआ वृषदन्त पर न इस धमकी का परिणाम ;
कहने लगा उसी निर्भयता से वह असि कर-थाम !

"मुझे ज्ञात है असुर राज के सम्मुख बोल रहा हूँ ;
और उन्हींकी कुटिल नीति का पर्दा खोल रहा हूँ !
पर सैनिक हूँ, है आता मुझको निर्भय हो मरना ;
निज विश्वास-धर्म-वेदी पर मन-धन सबकुछ धरना !
वेचा है मैंने निज श्रम, है बेचा नहीं स्वधर्म ;
कर सकता मैं नहीं भीतिवश कोई अनुचित कर्म !

हूँ सैनिक मैं बना, तुम्हारी हित-रक्षा करने को ;
प्रजा-राज्य दोनों की रक्षा में लड़ने-मरने को !
किन्तु निरस्त्रों की हत्या कर, गृह-वन-देश जलाना ;
अबलाओं, शिशुओं, वृद्धों पर पशु-सम शस्त्र चलाना ;
शान्त प्रजा को लूट-पीटकर परवश-विवश बनाना ;
स्वतंत्र लोकों को परवश कर जग के कष्ट बढ़ाना ;

अथवा प्रजा विरोधी नृप की नय में हाथ बंटाना ;
एक व्यक्ति-दल की इच्छा जनपद से विवश मनाना ;

आदि कार्य हैं नहीं सिपाही के, अनुचित पातक हैं ;
मनुष्यत्व, परलोक, लोक, मति सब ही के घातक हैं !

ऐसी पापाज्ञाएँ मैं स्वीकार नहीं कर सकता ;
नहीं राज्य के बदले भी पापों की हाँ भर सकता !
मरना तो है ही फिर क्यों लूँ सिर ईश्वर का क्रोध ?
क्यों न मरूँ फिर पापों ही का करते हुए विरोध ?"

अब असुरेश जल उठा, बोला सेनापति से, "जाओ !
और अभी इस विद्रोही का सिर कटवाकर लाओ !
सैनिक का है काम नहीं करना नय-अनय विचार ;
और करे तो है बस उसका प्राणदण्ड उपहार !"

सुन प्रधान दलपति बद्धांजलि बोला, "प्रभो, क्षमा हो ;
यदि ऐसा ही हो तो इसको निष्कासन-आज्ञा हो !
तीन बार हैं प्राण बचाए इसने श्रीमानों के ;
छः युद्धों में जीते हैं इसने दल बलवानों के !

अर्द्धादिक वय बीत चुकी है नृप-सेवा में इसकी ;
फिर इसके आश्रित खोजेंगे आश्रय-छाया किसकी ?
अतः ध्यान रख सब बातों का इसे मुक्त कर दीजे ;
अनुचर है, उसकी बातों पर न जा धर्म-यश लीजे !"

दलपति के थे असुर-नृपति पर कितने ही उपकार ;
एवं गहरे मित्र-सदृश था उनका निज व्यवहार !
अतः उन्हें पूरी आशा थी अपना बल चलने की ;
इतने बल ही से स्वमित्र को छुटकारा मिलने की !

किन्तु क्रोध से अन्ध हो रहा था वह तो अज्ञानी ;
अतः किसी की अनुनय अथवा विनय न उसने मानी !

उल्टा शुरू किया दलपति को भी आँखें दिखलाना ;
विवश, मौन हो, वृषदन्त को ले वह हुआ रवाना !

सुरथ और वृषदन्त के इस विधि सब उपकार ;
भुला दिखाया असुर ने असुर-भाव का सार !

अन्त में आ शिविरों से दूर, चमूपति करने लगे विचार ;
किस तरह इस विपत्ति से किया-जाय निज सहचर का उद्धार !
समस्या कठिन उपस्थित हुई, खास कर वीर सुरथ के अर्थ ;
मित्र-रक्षा थी सम्मुख इधर, उधर था सेवक-धर्म-समर्थ !
युद्ध के समय, शत्रु के देश-मध्य स्वामी को देना त्याग;
पाप था, और पाप था इधर-मित्र-बध में भी लेना भाग !
न था निर्दोष मित्र का मरण-सहन करना भी उसको साध्य ;
अतः वह लगा सोचने युक्ति, परिस्थिति को करने को बाध्य !

न जिससे करना हो नृप-दोह-और पा जाय मित्र भी त्राण ;
पड़े वृषदन्त को न असुरेश-अनय को भी देना सम्मान !
उधर जिस-जिसने ये सम्वाद सुने वे चिन्ता करने लगे ;
वीर वृषदन्त के लिए सभी उष्ण निःश्वासें भरने लगे !
अन्य दलपति भी आँखें बचा, लगे आ दिखलाने निज भक्ति !
लगे कहने "न माँग क्यों क्षमा, प्राप्त की इस पापी से मुक्ति !"

लगे वे चाटुकार तक जो कि, उसे कहते थे धर्म स्वरूप ;
इस समय नृप को देने, नीच दुष्ट आदिक के पदक अनूप !
अस्तु, वृषदन्त ने कहा, "किया ही नहीं है जब कुछ अपराध ;
तब क्षम कैसी ? है मुझको न भीरु बन कर जीने की साध !

प्रश्न यह है कि धर्म-विपरीत आचरण को हैं क्या हम बाध्य ?
और क्या है सैनिक-कर्त्तव्य, धर्म-रक्षा जब रहे न साध्य ?"

फिर प्रमुख सेनापति से कहा, "आपका भी है क्या मत यही ?"
किंतु दलपति बोला सक्रोध, "कभी दूँगा मैं यह मति नहीं !
नीति-हत कृतघ्न नृप के लिये, धर्म को करने से बलिदान,
श्रेष्ठ समझूंगा, सिंह समान तुम्हारा मैं दे देना प्राण !

मित्र के लिये मित्र की कीर्ति, मित्र से भी है प्यारी अधिक !
सिखाए मित्र को अकर्तव्य, पाप, वह मित्र नहीं, है वधिक !"

घूम औरों की दिशि फिर कहा, "आयु भर के सारे उपकार ;
तनिक सी त्रुटि पर यदि हैं बना दिये जा सकते क्षण में क्षार !
तो मरें हम सब किसके अर्थ, त्याग यह आयेगा किस काम ?
क्यों न इस त्रुटि को हम भी मित्र, यहीं से अन्तिम करें प्रणाम ?"

किंतु, वृषदन्त ने कहा, "इसे मानता मैं तो त्रुटि भी नहीं ;
धर्म है जन का, अपनी भूल सुधारे जहाँ ज्ञात हो वहीं !
हाँ न था मेरा कर्तव्य, कि मैं जा लेता अरि का पक्ष ;
तोड़ता अनुशासन, वा भाव न रखता अपने नृपति समक्ष !

फिर न था यह बतलाया गया ध्येय मम सेवा का भी कभी,
कि करने होंगे वे सब कार्य, कर रहे हैं जो हम सब अभी !"
प्रमुख दलपति बोला, 'हैं किंतु, सोचते नृप ये बातें कहाँ ?
न्याय, सुविचार, धर्म हैं सभी, आज तो बल के आश्रित यहाँ !"

हा, नौकर से तुच्छ है किस जन का व्यापार ?
एक चूक से चूर हों जिसके शत उपकार ?
जिसके शत उपकार, पाप भी हो करना ही ;
पापाज्ञा के विरोध में भी हो डरना ही।
"पथिक" भले ही उदर घास खाकर भर लीजे ;
पर मनुष्य हो तो न नौकरी पर की कीजे !

फिर कहा, "क्यों हम भी मिल सभी, करें असुरेश को न लाचार,
मानने को सैनिक के प्रकृत स्वधर्माचरणों के अधिकार ?
कहाँ मिलता है खल से न्याय, बिना दिखलाए अपनी शक्ति ?
धर्म को क्या जानें वे, ध्येय सदा से है जिनका धन-भक्ति ?
वशीकरण है साधु के अर्थ सत्य-व्यवहार ;
किन्तु खलों से शक्ति ही पाती है निस्तार।"

सुरथ को देख समर-सन्नद्ध, और भी सब हो गए तयार ;
बड़ों के साथ न होता कौन, तुरत तत्पर लेने को भार ?
अन्त में सबने जा असुरेश से कहा, "कीजे पुनर्विचार ;
अन्यथा हम सबका भी त्याग-पत्र अब कर लीजे स्वीकार !
हमारी मति में भी है नहीं, किसीको जग में यह अधिकार ;
कि ऐसी अनुचित धृति के लिए करे वह सैनिक को लाचार !
खासकर जब है उसने दिया शत्रु को भेद रंच भी नहीं ;
और है पाई गई न रंचन हानि भी उसकी कृति से कहीं !
नहीं है यह साधारण कर्म, युद्ध है प्रभु, हिंसा-व्यापार ;
और उसमें इतना स्वातंत्र्य, है मनुज का निश्चित अधिकार !
इसलिए भी कि नियम-अनुसार नहीं है यह रक्षात्मक युद्ध ;
न ही है इसकी शैली कही कभी जा सकती युद्ध विशुद्ध !"

श्रवण कर असुरराज की बुद्धि ठिकाने हुई और गत-क्रोध ;
लगा कहने वह हो कुछ नम्र, सभी को देता हुआ प्रबोध :

"नहीं था मेरा भाव कदापि कि मारा ही जाए वृषदन्त ;
किंतु इतना भय था अनिवार्य, इस प्रगति का करने को अन्त !
क्षमा करता हूँ मैं अब उसे, पर चला जाय वह इसी आन ;
अन्य कोई दलपति या सैन्य सके इस विषय में न कुछ जान !"

चमूपति बोले हो कृतकृत्य, "रहें, प्रभु ! सब विधि से निश्चित ;
आपकी उदारता ने स्वतः कर दिया है अशान्ति का अन्त !
आज्ञा के अनुसार ही, होंगे सारे काम !"
हुए विदा कह चमूपति, कर-कर पुनः प्रणाम !

वृषभदन्त ने भी सनेह-युत नृप को किया प्रणाम ;
तथा कहा "फिर भी यदि मेरे योग्य कभी कुछ काम
हो तो निःसंकोच स्मरण करिएगा, मैं आऊँगा ;
एवं वह सेवा कर सचमुच अतिशय सुख पाऊँगा !
मुझे नहीं है द्वेष, प्रश्न था यह स्वधर्म का स्वामा ;
वैसे समझें सदा आप मुझको वह ही अनुगामी !"

असुर देख वृषदन्त वीर का यह उदार व्यवहार ;
एवं कर स्मरण निज कृत अपकृति, उसके उपकार ;
कुछ लज्जित हो नम्र हुआ, एवं सुस्नेह दिखाकर ;
विदा किया वृषदन्त वीरवर को दे समुचित आदर ।

तृतीय सर्ग

इन्द्रपुरी मध्य आज था अखण्ड राज्य भीति-
चिन्तना का, मानो ये ही गृह-गृह छा रही थीं;
देखो जिसे, आँखें उसही की जानने को प्रिय,
आप्त-मित्र-समाचार, मानो अकुला रही थीं!
कितनी ही वाला किसी पथिक को आते देख,
दौड़ी उसही से वृत्त पूछने को जा रही थीं;
कितनी ही वृक्ष, गिरि-शिखिर, अटारियों के
शीश चढ़ी चारों ओर दृष्टि भटका रही थीं!

ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता था त्यों-त्यों आकुलता बढ़ती थी;
रह-रह आशा पर आशङ्काओं की रज चढ़ती थी!
उधर ग्रीष्म की भीष्म उष्णता अलग जलाती तन थी;
भीतर-बाहर जहाँ देखिए, केवल जलन-तपन थी!

जल-प्रपात भी आज नहीं मानो "सारंग" गाते थे;
सलिल-यंत्र भी शत नेत्रों से आँसू बरसाते थे !

इसी भाँति जल्पन-कल्पन में था सब सुर-पुर भूला;
आज कदाचित ही था कोई हृदय-कमल तो फूला !
दिन था, किन्तु किसीके भी हृद का न कहीं दिनकर था;
था कैलाश, उमा थी, किन्तु कहाँ डमरू, शशिधर था !

हृदय नहीं वे आज निराशा-आशा के रण-थल थे;
मूर्तिमान चिन्तन-राक्षसी के अस्थिर अंचल थे !

अन्त में, सहसा संध्या-समय, सुना यह सब ही ने साह्लाद,
कि सुरपति-प्रेषित कोई दूत, अभी लाया है कुछ सम्वाद !
मच गई,बस,घर-घर में धूम, छोड़कर सबही निज-निज काम;
अङ्क में ले कोई कुलदीप, स्मरण करती कोई हरिनाम;
लगाकर कोई गृह के द्वार, भ्रान्ति-धारा में बहती हुई;
वधू को कोई सौंप स्वकार्य, सजग रहने को कहती हुई ;
चलीं सब शची भवन की ओर, बना निज-निज सखियों के युत्थ;
कर रहे हों ज्यों मरु-थल पार,हरित तरु-बल्लरियों के युत्थ !
छेड़ती विविध अधूरी कक्ष, अनेकों असामयिक कुप्रसंग;
दिखाती नन्दन-वन के सुमन-वृन्द की भाँति विविध रुचि-रंग;
सभी पहुँचीं सुरपति के सदन, शची ने सबको आदर दिया;
सान्त्वना दे दे, सबसे बैठ पत्र सुनने का आग्रह किया ।
सुनाया गया पत्र, थे सैन्य अमित आ-आ सुरदल में मिले;
सभी सुर सोत्साह अरि-दिशा बढ़े जाते थे निर्भय चले ।
किया शचीन्द्र ने अनुरोध, किन्तु था किसीको न स्वीकार;
ठहरना या लेना विश्राम, न हो जब तक अरि-सीमा पार ।

विजय का है पूरा विश्वास, न कोई कुछ चिन्ता-भय करें;
न ही श्रुत-भित्ति हीन सम्वाद, किसीके मुख से सुनकर डरें।

पत्र श्रवण कर सभीने पाई किञ्चित शान्ति ;
मिटी बहुत-कुछ व्यर्थ की चिन्ताओं की भ्रान्ति !

शची थी स्वयं चिन्तनाक्रान्त, किन्तु औरों को देतीं स्थैर्य;
बताने लगीं कि किस विधि उन्हें, उचित है रखना निश्चल धैर्य !
किस तरह उनका साहस वीर सुरों को देगा दुगुनी शक्ति;
करेगी प्रिय-रक्षा किस भाँति समर में उनकी सच्ची भक्ति !
अन्त में आहत-गण सेवार्थ योजनाएँ बतलाकर नव्य;
बताया फिर था उनका स्वयम् इस दिशा में क्या शुचि कर्त्तव्य !

इसी विधि कर अनेक आलाप, गईं कितनी ही निज-निज धाम;
किन्तु कितनी ही लेती ही न थीं पुनः घर जाने का नाम !
प्रतिक्षण देख रही थीं राह कि आती है कुछ नूतन बात;
और जाएँ भी क्यों ? किसलिए ? काटनी तो भी जगकर रात !
किसे आ सकती थी सुख-नींद, लिए छाती पर इतना भार ?
कौन रह सकता था निश्चिन्त, हृदय में रख यह मारामार ?

इसी क्षण राजमार्ग-ओर रथ - चक्र - घोर
कान पड़ी और यान-जुते अश्व हिनहिनाए;
बस, फिर क्या था, जाग पड़ीं सारी स्मृति मानो
सुप्त वन-केकी ने पयोद-रव सुन पाए !
ध्यान - मग्न पौर - वृन्द ततक्षण उठ - उठ
भूल सभी भक्ति-भाव शची भवनों को धाए;
वाचकों के शान्त रहो सुनो, सुनो आदि शब्द
किसीने सुने ही नहीं, कोई ध्यान में न लाए !

आगे रथ, पीछे चली उत्सुक भीड़ अपार;
क्षण में जा पहुँचे सभी, इन्द्र-भवन के द्वार !

शची ने भी द्वार दिशा ज्यों ही रथ घोर सुनी
त्यों ही श्वास साध उठी और द्वार दिशा भगी ;
पृच्छकों की भीड़ से भी मानो लक्ष गुणाधिक
चिन्तना की भीड़ महिषी के चित्त आ लगी !
जान इतने में किसीसे कि आया है जयन्त,
एक नव आशा-ज्योति हृदय शची के जगी;
करने लगा विलास हास्य अधरों में और
आगे बढ़ी रानी चाव-भरी प्रेम-भाव में पगी !

किन्तु द्वार में जयन्त ने नहीं, जया ने सासु
को शिर झुकाते हुए प्रेम से चरण छुए;
इन्द्र - भामिनी ने भी जया ही को जयन्त मान
गले से लगाया, प्रेम - अश्रु बरसाते हुए !
लता-सी लिपट दोनों स्थिर हो रहीं क्षणेक,
मानो कुमुदिनि-जाल में कमल खिल गए;
या अजेय जान्हवी की अङ्क हरि - पैड़ियों में
पौर्णिमा मयङ्क हो निशङ्क चित्त खेल रहे !

अस्तु, हर्म्य में जा सब बैठीं, छिड़ी कथा फिर घर की;
जयन्त के रणभूमि-दिशा जाने के शुभ-अवसर की !
क्रमशः एक-एक कर, सारी श्वसुर-पत्र पाने की,
स्वपितु, सहोदर, कुटुम्बियों के पति के संग जाने की;
कितनी,किस विधि की सेना थी,जया स्वतः क्यों आई ?
आदि कहानी, प्रथम जया ने सविस्तार समझाई !

फिर सुर-महिषी ने सुरपुर के सारे वृत्त सुनाए;
वर्तमान क्षण तक रण-थल से आए पत्र दिखाए !
जया सुरों की अश्रान्त यात्रा के वृत पढ़ घबराई;
कहने लगी, "धूप में ऐसी दिन भर तपी-तपाई;
क्षुधित, श्रान्त सेना का रिपु से कहीं युद्ध छिड़ जाए;
तब तो जगदीश्वर ही सुर-सेना की लाज बचाए।"

बस इतना था बहुत सभा में चिन्ता फैलाने को;
समालोचकों को सुविवेचन-प्रतिभा दिखलाने को !
खुले ग्रन्थ अतिशयोक्तियों के, लगा फैलने त्रास;
होने लगीं भविष्यवाणियाँ, छूट चले विश्वास !
देख जया की त्रुटि का यह फल, सुर-महिषी हो चिन्तित;
करने लगीं यत्न करने का इस अधैर्य को प्रशमित !

बोलीं, "बेटी ! रञ्च न चिन्तित हो इन घटनाओं से;
सुर-गण हैं पर्याप्त योग्य लड़ने में बाधाओं से !
फिर हैं सुर-गुरु और तुम्हारे श्वसुर साथ सुरदल के;
असुर-शक्ति कुछ काम न देगी सम्मुख उनके बल के !
न्याय-पक्ष है, पुत्रि, सुरों का, पाप-पक्ष असुरों का;
अतः समर में विजयी होगा निश्चय पक्ष सुरों का !"

फिर आहत-सेवा प्रसंग ले, नव्य व्यवस्था सारी,
बता, जया से पूछा, "बेटी, क्या है राय तुम्हारी ?"
जया मुदित हो बोली, "हो सकता है इससे बढ़कर,
कौन कार्य भूतल पर सुरबालाओं को श्रेयस्कर ?
यदि मातुश्री आज्ञा दें, मैं स्वयं साथ जाऊँगी;
और भाग ले इस सुयज्ञ में, परम शान्ति पाऊँगी।"

बोलीं शची, "सदिच्छा है यह बेटी, योग्य तुम्हारे;
सत्य, प्रेम, सेवा तो हैं ही प्राणाधार हमारे !
इन तीनों ही में है केन्द्रित गौरव महिलाओं का;
यही धर्म है, सब देशों में सुर-नर-बालाओं का !
कार्य हमारा है, पुरुषों को दे निःस्वार्थ सहाय,
कर्म-मार्ग में सफल बनाने के रच सभी उपाय;
उनके कटु कर्त्तव्य-मार्ग को सरस सुगम्य बनाना;
घर में भी आत्मीय भाव रखना जग को सिखलाना !

दिखलाना, जिस विधि हम बालाएँ हो भी परकीय,
कर लेती हैं वास्तव में पति-पतिगृह सभी स्वकीय;
जिस विधि हम सचमुच पति की अर्द्धांगिनि बन जाती हैं,
उनके सुख में सौख्य तथा दुःखों में दुख पाती हैं;
उसी भाँति सम्भव है जग को भी आत्मीय बनाना,
सचमुच समष्टि के सुख-दुख से जन का सुख-दुख पाना;
एवं निज व्यक्तित्व भूल सबसे सेवार्थ लगाना;
छोड़ कुटुम्ब, कर्म-वेदी पर जीवन मुदित चढ़ाना।"

फल भी वांछित ही हुआ, सुरांगनागण-चित्त;
रण-चर्चा तज सोचने लगीं गृहस्थ-निमित्त !

इसी क्षण फिर आए सम्वाद, कि सुर-पति-चर आया है एक;
साथ ही आए उत्सुक बने, देवियों के भी युत्थ अनेक !
शची ने आज्ञा दी तत्काल, कि चर को लाया जाए यहीं;
दूत ने आ, प्रणाम कर, दिया पत्र, सुर-महिषी पढ़ने लगीं !
सुनाया फिर, किस विधि अरि-खोज,लगा, फिर कैसे वर्षा चढ़ी,
किस तरह सुरपति का अनुरोध भी न सुन सेना आगे बढ़ी !

किस साहस से सुरों ने निज कष्टों को भूल;
वर्षा ही में शत्रु पर दिए मत्त गज हूल !

एक फिर बोल उठी, "सुर-सैन्य ने नहीं किया योग्य यह काम;
कुऋतु में तो निश्चय ही उन्हें ठहरकर लेना था विश्राम !"
दूत बोला, "थे सुरगण, देवि ! कोध्र से अन्धे-से बन रहे;
हृदय में सबही के थे कुंड भरे प्रतिहिंसा से जल रहे !
साथ ही सेनापति इत्यादि, सभी का था ऐसा अनुमान;
कि तत्क्षण करने में आक्रमण मिलेगा हमको लाभ महान !"

शची ने कहा, "ठीक है पुत्र ! करेंगे सब शुभ ही भगवान्;
सुरों का साहस, गुरु की कृपा, चमूपतियों का अनुभव-ज्ञान ।
देव-बालाओं की हरि-भक्ति, राष्ट्र का सत्यपूर्ण व्यवहार;
करेंगे निश्चय विजयी उन्हें, भले ही शत्रु बने संसार ।"
कहा फिर सबसे, "जब सुर-वृन्द शौर्य हैं ऐसा दिखला रहे;
कुऋतु में भी लेने को शोध शत्रु से, हैं यों अकुला रहे;

तब हमारा भी है यह ही धर्म, कि बन कर सच्ची वीरांगना,
न आने दें मन में भी भीति, पराजय आदिक की कल्पना !
रहें प्रस्तुत महिलाएँ तलक शत्रु से करने को संग्राम;
तथा करने को अरि का नाश, या मिटाने को अपना नाम !"
हुआ इसका प्रभाव भी उचित, सभी के मन में दृढ़ता जगी;
स्ववच, निर्बलता पर प्रत्येक हृदय में लज्जित होने लगी !

भरा नव साहस, सब ही लगीं सोचने कुछ साहसमय कार्य;
कि जिसको करके वे भी दिखा सकें निज राष्ट्र-प्रेम, औदार्य !
देख इस परिवर्तन को हुआ शची के मन में अति आनन्द;
लगी वह लिखने उत्तर पूछ-पूछ फिर सबका मत स्वच्छन्द !

पत्र लिख, चर को दे, फिर कहा, "भेज दो इसको तात, तुरन्त;
और फिर जाकर लो विश्राम, करो इस दौड़-धूप का अन्त।"

जया चुप देख रही थी वाट, मिले कुछ जयन्त का संदेश;
किन्तु कुछ कहा न चर ने, न ही दिया रानी ने कुछ निर्देश!
उधर सवके सम्मुख भी था न पूछना सम्भव ऐसी वात;
किन्तु उत्सुकता का भी कहाँ सहज में मिटता था उत्पात?
पड़ा असमंजस, वेढव कलह लाज मन-इच्छा में छिड़ गई;
वह चली नदी रक्त की, अधर-कपोलों पर लाली चढ़ गई!
देख निज नागरिकों में फूट, नयन भी लज्जित हो झुक गए;
श्वास भी देख मार्ग अवरुद्ध, एक क्षण ज्यों-के-त्यों रुक गए!

अन्त में खोजा मध्यम मार्ग, सासु को उठकर किया प्रणाम;
और सहचरी-सहित जा किया अनावृत शयनागार ललाम!
फिर वहाँ बुलवा चर को लगी पूछने रण-सम्बन्धी बात;
चला जव वह सेना को छोड़, गई होगी तव कितनी रात?
नवागत सैनिक-गण के पते, प्रमुख सेनानीगण के नाम;
मार्ग में हो यदि कोई मिला, प्रमुख नव-सेनापति बलधाम?

किन्तु था चर न चतुर, वह समझ ही सका नहीं जया की बात;
और दे सीधे उत्तर लगा देखने घर जाने की घात!
जया भी पहले तो कुछ खिजी, किन्तु फिर समझ उसे निर्दोष;
बाँध साहस, नूतन पथ-शोध, त्यागकर सरल दूत प्रति रोष;
पूछने लगी जयनगर-सैन्य आ गया था तब अथवा नहीं?
दूत ने भी अवके सब समझ, जोड़ कर कहा, मातुश्री! नहीं!
सम्भव है, वे आ गए हों मेरे पश्चात्;
किन्तु उस समय तक न थे उनके कुछ सम्वाद!

सुन, जया करके चर को विदा, गई शय्या पर करने शयन;
किन्तु होते ही थे कब बन्द बिना निज बन्दी पाए नयन !
रहा था पहले तो चित घिरा सजाने में जयन्त-शृंगार;
पहुँचने में फिर सुरपुर और वहाँ करने में विविध विचार !
देखने में पथ के नव दृष्य, कभी करने में कोई बात;
किंतु इस समय न था कुछ काम, रोकने को चिन्ता की घात !

अतः पा अवसर चिन्ता और विरह ने छेड़ी अपनी तान;
चलाने लगे शठों की तरह अरक्षित अबला पर वे बाण !
सैकड़ों शङ्काओं ने हृदय-मध्य आ छेड़ी उथल-पुथल;
हृदय क्या अंग-अंग हो उठे विकलता की ज्वाला से विकल !
दूत से सुनी हुई घन-माल, जया-हृद में मानो आ घिरी;
चन्द्रिका के रहते ही रात्रि बनी बंध्या, सुदीर्घ हो चली !

पल-पल पत्र ले जयन्त का, किसीके आने
की हो चली भ्रान्ति, सखियों को लगीं भेजने;
तरु-पत्र की खरर ध्वनि मात्र सुनकर
ही उठ झरोखों में से झांक लगी देखने !
कोई न दिखाई देने पर हो निराश, पड़ी-
शय्या मध्य लगी हार सुमनों के फेंकने;
कभी तन ढांकने, उघाड़ने, कभी चलाने
पंखा, कभी अकुलाती उठ-उठ बैठने !

कभी कोई धर्म-ग्रंथ पाठ करने को दीप
निकट मंगाती, किन्तु कहाँ पढ़ पाती थी ?
अक्षरों को देख-देख आँखें अनखाती मानो
उन्हें ये मधुर वेदना विशेष भाती थी !

आँखों को भी अक्षरों में अटकाती किसी विधि
तो न मानोवृत्ति मन ग्रंथ में लगाती थी;
अंत में निराश हुई, फेंकती निश्वास फिर
पुष्प-राशि-जैसी सेज मध्य पड़ जाती थी !

फिर परिचारिका से रागिनी छिड़ाती, कभी
चौपड़, नरद, पति-चित्र मँगवाती थी;
कभी छिड़काती सारी शय्या में गुलाब, कभी
छाती पर सारी पुष्पमालाएँ बिछाती थी !
रह-रह होते थे पसीने, घबराता मन,
जीने की भी आशा-डोर छूट-छूट जाती थी;
भूली सब होश, कर-कर रोष, दोष देती
दैव को, दया के लिए देवों को मनाती थी !

कभी मन-भार दूर करने को, खूब मन
भर-भर रोने की तरंग मन आती थी;
किन्तु अश्रु थे कहाँ, भभक रहे थे हृदय
में तो ऐसे भभूके कि देह जली जाती थी !
फिर जब देखती थी आँखों में खचित पति-चित्र
तब एक और बाधा बढ़ जाती थी;
रोए भय था कि चित्र ही न धुल जाय कहीं,
बिना रोए भार-मुक्त होती नहीं छाती थी !

बैठे कल थी न पड़े चैन, हृद पर पुष्प
बिखर रहे थे कमलों पर तुषार-से;
क्षण में थे सूख बन जाते कंटकों-से तीखे,
स्पर्श करते ही अंग तँचते अंगार-से !

शशि-सुधा-सीकर बरस रहे थे सतत
किन्तु आज थे वे तप्त तेल की फुहार-से;
सारे ही पदार्थ कल थे जो प्रेम-भाव पगे,
आज बन रहे त्याज्य थे वे दुराचार-से !

लगा कुछ ही क्षण के पश्चात्, फड़कने रह-रह दक्षिण नयन;
हो पड़ा जया-अर्थ अब कठिन जागरण, फिर कैसा शयन ?
बीतने लगा प्रतिक्षण एक-एक युग-सम कष्टों से पूर्ण;
हो चले हृद-गत दृढ़तम भाव कुशङ्का की चोटों से चूर्ण !
स्वर्ण-सी देह पड़ चली स्फीत, शान्ति-सुख सभी भीत हो भगे;
मात्र आशा-आश्रित ही श्वास लौटकर फिर-फिर आने लगे !

देख सखियों का छूटा धैर्य, गईं कुछ भाग शची के निकट;
सुनाकर सारी बातें कहा, अवस्था है मातुश्री, विकट !

शची ने तुरत जया के हर्म्य-द्वार में आकर किया प्रवेश;
देख, लज्जित हो, उठकर जया, व्यवस्थित करने लगी स्व-वेश !
शची को कर प्रणाम, फिर सेज पर बिठा, कुछ सकुचाती हुई;
भूमि पर, सासु-चरण के निकट स्वयम् बैठी घबराती हुई !
शची ने देते हुए अनेक भाँति सान्त्वना, कहा—"यों व्यर्थ-
अनावश्यक बातों के, विविध लगाकर झूठे-कल्पित अर्थ !
त्वमादृश विदुषी का हे वधू, गंवा धीरज बन जाना विकल;
न है केवल लज्जा की बात, करेगा औरों को भी विह्वल !
तनिक सोचो, यदि तुम ही स्वयं इस तरह होने लगो अधीर;
तो किसे देख लगेंगे और हृदय इस विपत्ति-सर के तीर !

विपति-अग्नि से पिघलता है निर्वीर्य कतीर;
पर बनता है लौह का दुगना सुदृढ़ शरीर !

वास्तव में चिन्ता के लिए नहीं है अब तक कुछ भी बात";
कह, शची ने देकर नव पत्र, नत-नयन पुत्र-वधू के हाथ;
कहा, "इसको पढ़ निश्चय तुम्हें मिलेगी, बेटी, सच्ची शांति;
साथ ही होगी सब कल्पना प्रमाणित केवल भ्रम की भांति !"
जया ने पत्र खोलकर पढ़ा, और सचमुच ही पाई शान्ति;
ततक्षण उसके मुख पर चमक उठी वह ही पहले की कान्ति !

चतुर्थ सर्ग

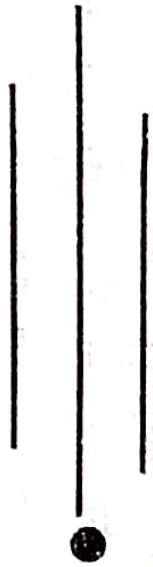

इधर चमू सुर-वृन्द की बिना रुके क्षण एक;
बढ़ी चली आ रही थी लिए युद्ध की टेक !

शचीपति ने समझाया बहुत, देवगण ! ले लो कुछ विश्रान्ति;
शान्त हो भोजन कर लो, ताकि उष्णता की मिट जाए क्लान्ति !
किन्तु भोजन भाता था किसे, यहाँ तो थी ज्वाला जल रही;
सभी के हृदयों में प्रतिशोध-भाव की आँधी थी चल रही !
फिर मिले जितने आपद - ग्रस्त, और जो कही उन्होंने कथा;
बढ़ाई ही उसने प्रत्येक हृदय की वह मर्मान्तक व्यथा !

उन्होंने निश्चित उत्तर दिया, "आज का भोजन होगा युद्ध;
वहीं चलकर लेंगे विश्रान्ति, वहीं होंगे कर, मुख, पद शुद्ध !
न जब तक सुर-सीमा से शत्रु-सैन्य का व्यक्ति-व्यक्ति हट जाय;
या न जब तक सुरगण का चरण-चिह्न तक भूतल से मिट जाय;

शांति को तब तक हे सुर राज ! स्मरण करना भी होगा पाप;
हमें तो जितना जल्दी बने, भिड़ा दीजे अरि-दल से आप !"

जल रही थी कटाह-सम भूमि, आग बरसाता था आकाश;
लूह की लपटों से हो गया बन्द था वृक्षों तक का श्वास !
कृशांगी नदियाँ ज्वर से ग्रस्त, जा रही थीं घबराई हुई;
वायु भी ढूंढ रही थी छाँह लताओं में कुम्हलाई हुई !
अश्व-गज प्रस्वेदों से प्रोत रहे थे सर्प - सदृश फुङ्कार;
किन्तु सुर-दल ने क्षण भी कहीं ठहरना नहीं किया स्वीकार !

अन्त में ज्यों-त्यों संध्या, निशापति, नखत दिखाई दिए;
निशा ने निज कृष्णांचल बढ़ा, नगर, गिरि, राह, बाट ढक लिए !
वायु को चक्कर आ-आ, बन्द बगूलों का बनना हो गया,
सूर्य अकुलाकर, पय-निधि-गर्भ-मध्य जा सुख-निद्रा सो गया !
चन्द्र-तम-रश्मियाँ बना साथ, नृत्य भूतल पर करने लगीं;
खेलती हुई मुदित हो आँख-मिचौनी छिपती फिरने लगीं !

इधर सेना से आगे कई गुप्तचर धरे अनेकों वेश;
चल रहे थे रखते यह ध्यान कि रिपु का कुछ मिल जाय सँदेश !
अचानक उन्हें दिखाई दिए, एक झाड़ी में पड़े अचेत;
नींद-वश कुछ असुरों के दूत, भूलकर निज नियुक्ति का हेतु !

सुर-चरों ने उनको तत्काल बाँधकर निज बन्दी कर लिया;
और उन ही से सब-कुछ जान, रास्ता सुरदल का फिर लिया !

हुई सुर-चाही, छींका टूट भाग्य से बिल्ली के गिर गया;
शत्रु की सब कृति-गति का पता सुरों को इन ही से मिल गया !
शत्रु के जयन्त-सर-तट शिविर लगाने की भी आई बात;
हुआ सबको सुनकर सन्तोष कि होगा अब अरि से साक्षात् !

अचानक घन-पटलों ने दशों दिशाओं को आवृत कर लिया;
रात्रि ने मानो सारी भूमि और नभ-मंडल को चर लिया।

छा गया गहरा तम चहुँ ओर, दृष्टि खो बैठी अपनी शक्ति;
ग्रीष्म में प्रावृट का अवतार देख मोरों में उमड़ी भक्ति!
दूसरे ही क्षण चली फुहार, चला ने छेड़ा अपना काम;
वायु ने भी पकड़ा कुछ जोर, मचाया उपलों ने कुहराम!
शचीपति ने सुरगण से कहा, "शत्रु है यद्यपि अतिशय निकट;
तदपि इस समय कुऋतु ने कार्य युद्ध का बना दिया है विकट!

थके हुए भी हो सभी, अतः करो विश्राम;
प्रातः अरि से करेंगे निश्चय ही संग्राम!

किन्तु देवगण दृढ़ रहे निज निश्चय अनुसार;
और ततक्षण आक्रमण को हो गए तयार!

सेनापति ने भी कहा, अवसर है उपयुक्त;
इसी समय का आक्रमण हमें करेगा मुक्त!

गुरुदेव समझ बोले, "सुरगण! यदि अभी युद्ध करना हो;
इस काल-रात्रि में ही रण-चण्डी का खप्पर भरना हो;
तो निर्भय होकर बढ़िए, हमको कुछ आपत्ति नहीं है;
अरि से भिड़ जाने की उत्सुकता हमको अधिक कहीं है!

किन्तु देवगण! रिपु को पहले सावधान कर दीजे;
क्रोध-अन्ध हो सुर-गौरव-विपरीत कार्य मत कीजे।"
सेनापति बोले, "अरि ही है कौन सत्य-व्रत-धारी?
उसने तो छल से ही की है सृष्टि नष्ट यह सारी!"

गुरु बोले, "निश्चय ही अरि है कपटी, अत्याचारी;
उसने छल-बल से ही की है इतनी हानि हमारी !
उस ही ने अनेक ग्रामों को है स्मशान बनाया;
अबलाओं, शिशुओं तक पर है विपति-वज्र घहराया !
पर फिर भी, क्या उसके सम होना है धर्म हमारा ?"
बोले दलपति, "है क्या सत का हमने लिया इजारा ?

कर सकते हैं दस्यु जब स्वार्थ-अर्थ अनरीति;
तो निज रक्षा अर्थ क्यों, गहें न हम वह नीति ?
गहें न हम वह नीति, अन्त, अरि भी तो जाने—
कैसे फल लाती हैं छल-कौशल की तानें !
प्रभो ! न हम इस अवसर को सहसा छोड़ेंगे;
अधर्म हो, तो भी न इस समय मुंह मोड़ेंगे !

सह सकते हैं निर्जर, गुरुवर ! निज प्राणों की हानि;
सत्यनिष्ठ अरि तक को सकते हैं वे निज जन मान !
किन्तु नहीं सह सकते शिशु-अबलाओं का अपमान;
अथवा होना धर्म और स्वातंत्र्य आदि अवसान !
जो इनपर कर तो क्या, कुदृष्टि से भी घात करेगा;
किसी भाँति हो, वह निश्चय ही तत्क्षण वहीं मरेगा !

फिर काश्यप ने तो है निर्पेक्षों पर असि चलवाई;
आज स्वर्ग-कष्टों का उससे अधिक कौन है दायी ?
आज उसीकी क्रूर क्रूरता के, हाँ, बने शिकार;
कितने शिशु जीवित ही जलकर नहीं हुए हैं क्षार ?
नहीं धुल गई है रो-रो कितनी आँखों की लाली ?
पड़ीं न कितनी कुसुम-कुंज हैं बनी राख की ढाली ?

अतः आततायी-वध में है विहित आसुरी नीति;
आज्ञा दीजे हमें आप तो छोड़ धर्म की भीति !"
गुरु बोले, "अविचार करो मत वीर, क्रोधवश होकर;
माना असुर पड़े हैं सुरदल के पीछे कर धोकर !
उनके निकट न्याय आदिक का कुछ भी मूल्य नहीं है;
उनके लिए स्वर्ग-रौरव, सुख-दुख ध्रुव सकल यहीं है !

किन्तु देवगण ! देव देव ही हैं, वे देव रहेंगे;
कभी न रिपु की दुष्ट नीति में वे हो अन्ध बहेंगे !
सोचो, यदि शाठ्यम प्रति शाठ्यम को हम भी अपनालें;
असुरों की अघ-पूर्ण नीति को अपनी नीति बनालें;
निद्रित पड़े शत्रु-शिविरों में जाकर आग लगा दें;
फिर भयभीत, पलायित सेना पर शस्त्रास्त्र चला दें;

तो, फिर क्या अन्तर सुर-असुरों की कृति मध्य रहेगा ?
कौन सुरों को श्रेष्ठ और असुरों से भला कहेगा ?
किस बल पर हम असुरों को धिक्कारें-ललकारेंगे ?
किस बल पर हिंसा कर भी गर्वित हो हुँकारेंगे ?
क्या दिखलाकर बोलेंगे, है सच्चा पक्ष हमारा ?
किस बल पर चाहेंगे, हमको सबसे मिले सहारा ?

अतः सूचना भेज दीजिए निज सेना आने की;
कहला दें, आवश्यकता है तत्क्षण सज जाने की !
और यह कि हम सम-बल, सम-रण-कौशल का कर ज्ञान;
निज-निज जोड़ी के योद्धा को करते हैं आह्वान !
हाँ, यदि तुमको स्वीकृत यह सुर-रण का नियम न होगा;
तो फिर असम युद्ध के नियमों ही का पालन होगा !"

सेनापति ने गुरु-पद-रज ले कहा, "क्षमा हो स्वामी !
प्रतिशोधों ही में व्रत के थे इस क्षण हम अनुगामी !
सुन-सुन भीषण कथा असुर-गण के अत्याचारों की;
निर्दोषों, निर्बोध सुरों पर हुए क्रूर वारों की !
पागल हैं बन रहे सभी, हमको कुछ भान नहीं है;
हमें इस समय युद्ध-भावना तज, कुछ ज्ञान नहीं है !

यदि क्षण भर के भी लिए आप, गुरु ! इस असह्य ज्वाला को;
इस अरि - कृत्यों की स्मृति-पट पर झलमलती कृति-माला को !

उस आँधी को, जो सुर-युवकों के हृदयों में चलती है ;
उस होली को, जो आज सुरों के हृदयों में जलती है ;
उस स्वाभिमान को, जो ठोकर खाकर पागल बन जाता है ;
उस नवयुवकोचित मन को जिसमें तुरत ज्वार आता है ;
इस दुसह जलन को, तीव्र वेदना को, निज मन-भर सकते ;
तो निश्चय ही हम लोगों की स्थिति का अनुभव कर सकते !

अस्तु, भेजते हैं अभी हम निज दूत विशेष ;
ठीक समय पर शत्रु को देने रण-सन्देश !"

गया दूत अरि शिविर में, देने समराह्वान;
इधर लगा सुर-सैन्य में होने व्यूह-विधान !

पहुँचा उधर दूत सुरगण का ज्योंही शत्रु-दलों में ;
त्यों ही चारों ओर मच गई गड़बड़ रिपु-शिविरों में !
कौन निकलता ही था बाहर को वर्षा का मारा ;
अतः जाँच का भार सभीने पड़ोसियों पर टाला !
पड़ोसियों ने भी कल्पित उत्तर दे झगड़ा मेटा ;
और किसीने कल्पित उत्तर पर भी हास्य लपेटा !

कहा किसीने, अरे !: सुरों ने मिल छापा मारा है ;
कहा किसीने, भस्म हो गया उधर शिविर सारा है !
कोई बोला, भाग रहे हैं रे सब, तुम भी आओ ;
कोई बोला, अरे ! भगो चुपचाप, न कूक मचाओ !
फलतः जो जागा, वह उठ भागा मुँह उठा जिधर को ;
कोई चला आँख मींचे ही जाने देव, किधर को !

छूट गए पदत्राण किसीके और किसीकी पगड़ी ;
हाथ पड़ा बस परिघ किसीके, और किसीके लकड़ी !
किसी-किसीने जल्दी-जल्दी सिर पर बांधी कछनी ;
किसी-किसीने अंगरक्षिणी ले पैरों में पहनी !
कितने जन आँखें मींचे आपस ही में लड़ बैठे ;
कितने मेख तोड़ भागे तो खम्भे से अड़ बैठे !

कितने ही बोले, अरे छाए हैं पयोद, पानी
बरस रहा है, कुछ दृष्टि नहीं आता है ;
कज्जल के कूट-जैसी कृष्ण-घन-घिरी ऐसी
रात्रि में भी भला कहीं युद्ध किया जाता है ?
तुम भी विचित्र प्राणी हो जी ! दूसरों का सुख
मानो तुम्हें फूटी आँख भी नहीं सुहाता है ;
सोने के समय चले आए जूझने को यहाँ,
अजी, मरना भी भले भाव में ही भाता है !

पहुँचा सारा हाल, हिरण्यकश्यप के निकट ;
रचो व्यूह तत्काल, आज्ञा दी असुरेश ने !

पुनः कहा, सम युद्ध का है न हमें अभ्यास ;
अतः सुर-नियम पालने का होगा न प्रयास !

सेनापतियों ने कर प्रयत्न ; समझाया सबको विपति स्वप्न !
फिर दल विभक्त कर रचे व्यूह; गज कहीं पदातिक-गण समूह !
बज उठे शंख, भेरी, निशान; बन्दीगण गाने लगे गान !
दलपति निज-निज दल को प्रचार ; युद्धार्थ लगे करने तयार !
महताबों का फैला प्रकाश ; तम भागा मानो हो हताश !
उस ओर देवगण सजे साज ; झपटे ज्यों लखि आखेट बाज !
क्षण में युग दल शस्त्रास्त्र धार; अड़ गए, उठी ध्वनि मार-मार !
भिड़ पड़े सुभट, तज प्राण-प्रीति; भागी भयभीता मृत्यु-भीति !
ली खींच किसीने कर कृपाण; कोई ले चढ़ा सुतीक्ष्ण बाण !
कोई लेकर जम्हिया, कटार; निज अरि पर कर बैठा प्रहार !
शर चले पक्षयुत अहि-समान; पाए जन्मेजय मखाह्वान !
घन में तो थी चंचला एक; चल पड़ीं यहाँ चपला अनेक !
दोनों दल-कृत रण-वाद्य शोर; वाहन-रव, रथकृत तुमुल घोर !
घन-घोर विनिन्दक शंखनाद; जयघोष, शूरगण मध्य वाद !
वर-वीर हाक, आहत पुकार; शस्त्रास्त्रों की कटु रणंकार—
में डूब गया यों तड़ित नाद; ज्यों सिंधु-तर्ज में पक्षि-वाद !

रण-द्वन्द्व में घन-गर्जना निःशब्द हो लय हो गई ;
रजनी-अनी की सघनता शस्त्रास्त्र-द्युति में खोगई !
यों घूमकर दोनों दलों के वीर रण में अड़ गए ;
ज्वालामुखी दो क्रोध कर हों ज्यों परस्पर भिड़ गए !

इसी अपमान को असह्य मान मानो फिर
मेघ-माला घोर-घोर वृष्टि बरसाने लगी ;
चला चली, मानो काल रात्रि अट्टहास कर
तम-वाहिनी को असि-कौशल दिखाने लगी !

वायु चली, मानो शेष-सैन्य भर क्रोध, फन
उठा, पथ रोक दोनों दलों को डराने लगी ;
उपलों का ताँता लगा, मानो शून्य सृष्टि सब
गर्ज-गर्ज गगन से गोलियाँ चलाने लगी !

किन्तु क्रुद्ध सुरवृन्द का, घटा न रञ्चोत्साह ;
वे बढ़ते ही गए तज जीवन की परवाह !

उस ओर वीरों को वरण करने को जुड़े
युत्थ वीरांगनाओं के युद्ध-गीत गाने लगे ;
कल गान गाते, इठलाते, मुसकाते, मानो
क्रूर युद्ध-कला को भी सरस बनाने लगे !
तम को हटाते, दृष्टि सबों की बचाते, पुष्प-
मालाएँ दिखाते, युवकों को ललचाने लगे ;
देख-देख अमर सुखों के प्रेमी सुध भूल
कूद-कूद शुभ्र असिधारा मध्य नहाने लगे !

सैनिकों को मानो भान था न निज देह का भी,
यन्त्र की तरह धुन बाँधे लड़े जाते थे ;
अश्व, गज, असुर-पदाति, रथी, अतिरथी,
वार में जो आता उसीको धर दबाते थे ।
अन्धकार था तथापि हाथ रुकते थे कब,
दक्षता से लक्ष्य कर विरोधी को गिराते थे ;
ज्यों-ज्यों घाव खाते, त्यों-त्यों आता था अधिक क्रोध,
गाज-गाज और पद आगे ही बढ़ाते थे !

देखते ही देखते रणोन्मत्त बांकुरों के
कर, पद, परिघ, कृपाण, बाण अड़ गए ;
कहीं पैदलों से अश्व, कहीं कुंजरों से रथी,
सामने पड़ा जो, वीर उस ही से भिड़ गए !
हाथ काटे किसी के तो चरण; किसी की कटि,
शीश कट वीर कितने ही भूमि पड़ गए ;
कोई झुक झूम ज्योंही भूमि गिरे त्योंही घन—
घोर घमासान मध्य बीच कीच गड़ गए !

कोई मुंड पड़े मार-मार करते थे, कोई
थे सभीत साथियों का साहस बढ़ा रहे ;
कोई रुण्ड खंग लिए दलों में रहे थे दौड़ ;
कोई शत्रु को थे कक्ष में दबाए जा रहे !
कोई बैठे हुए, भूमिसात अरि-वक्ष पर
वायु में परिघ निरुद्देश्य थे हिला रहे ;
कोई निज शत्रु को उठाए हुए शून्य दिशा
ज्यों थे उसे राह ब्रह्मलोक की दिखा रहे !

वृद्ध सुरराज का तो पूछना ही क्या, वह थे ज्यों
चारों ओर रुद्र बने चक्कर लगा रहे ;
थे प्रलयदूत कर-परिघ प्रचण्ड लिए
देव-द्रोहियों को ठौर-ठौर से भगा रहे !
जहाँ भीति होती वहीं पहुँच-पहुँच, गर्ज
थे वह युवकों में नव साहस जगा रहे ;
भूतनाथ-भैरव समान किलकारी कर,
सिंह सम गर्जते वह क्षेत्र को गुँजा रहे !

अकेले ही दीखते थे सौ सुरेशों के समान,
क्षण में यहाँ तो क्षण वहाँ जा पुकारते ;
कहीं असुरों को मेप-युत्थ ज्यों भगाते हुए,
कहीं निज खंग अश्व-कन्धों में उतारते !
जहाँ सुर-वाहिनी तनिक भी हटाती पैर,
वहीं देखे जाते वे सुरों को ललकारते ;
वाजीगर-जैसे कभी बाजि चढ़े, कभी गज,
कभी रथ बैठे रथी-गणों को प्रचारते !

जिस ओर जाती उड़ असि अमरेशजी की,
शूर सुभटों के हथियार छूट पड़ते ;
म्यान से निकल जहाँ घूमती वहाँ तो मानो
भागते ही भागते भी भाग्य फूट पड़ते !
धाक बैठ गई असुरों में ऐसी इन्द्र की, कि
दृष्टि से ही मानो देवि-देव रूठ पड़ते ;
परिघ - प्रहार करने को बाहु उठते ही
अररराते हुए व्यूह-द्वार टूट पड़ते !

वह चली रक्त की फुँकारती विशाल नदी,
कटे बाहु-पाद मत्स्य-जैसे उतराने लगे ;
ढाल, शिर-कच्छप, शरासन, परिघ-फणि
रुण्ड-ग्राह-मकर सदृश बहे जाने लगे !
शुण्ड कटे हाथी, पंगहीन उष्ट्र, अश्व आदि
दौड़-दौड़ अपनी ही सेना को खपाने लगे ;
तृण - लता - गुल्म जान्हवी की कृपा हुई जान
मल-मल, दल-दल, नाच-नाच नहाने लगे !

पड़ीं गज पंक्ति मानो लोहित-समुद्र मध्य
ठौर-ठौर नव्य द्वीप पुंजों की कतार हैं ;
या समुद्र-गर्भ-गत शैल-श्रेणियों के दूत
देख रहे खड़े खंग-युद्ध की बहार हैं !
उष्ट्र पड़े मानो पाँच मकरों से घिरे हुए
बैठे सिन्धु-कच्छपों के बड़े सिरदार हैं ;
जिस ओर देखो बस छागया गुलाल रंग
मानो आए वन्य-श्री के फागुनी त्योहार हैं !

हो गया अजीर्ण भूत-वाहिनी, पिशाचियों को,
प्रलय के देव भूतनाथ नृत्य कर उठे ;
भूमि पोली पड़ ऊँची व्रण उभर आई,
मानो रज-कणों के भी उदर अफर उठे !
चण्डिका के खप्परों की कौन कहे, क्षेत्र, नदी,
नद, नाले-खाले सब शोणित से भर उठे ;
मत्त हुई काली कर उठी किलकारी, सुन—
सुप्त शिव-प्राण हिम-अंक में सिहर उठे !

अन्धकार से एक था सबको लाभ महान ;
करता था प्रत्येक निज जय का ही अनुमान !

अस्तु अर्द्ध से अधिक रात्रि गई, तब कहीं
वारिदों के युत्थ शक्ति खो लगे बिखरने ;
निशानाथ, नखत-पयोधरों से पिण्ड छुड़ा,
चिन्ताहीन बने शून्य में लगे बिचरने !
युद्ध-भूमि पर से यवनिका उठी, प्रकाश-
रश्मि-दल लगे रंगभूमि में उतरने ;

देव-सैना पीछे हट आई थी अधिक, देख,
नेत्र सुर-सैनिकों के लगे रोष भरने !

सेनानीगण सैनिकों को दे-दे धिक्कार ;
सेना में करने लगे नवोत्साह संचार !

रोष-पगे सुर भी बढ़े, भरते रण-हुङ्कार ;
निश्चय कर, अरि सैन्य को कर देने को क्षार !

उठे दर्द की तरह, बढ़े विद्युत-गति से सुर आगे ;
मानो मदन-बाण-आहत हो, क्रुद्ध उमापति जागे !
क्षण-क्षण लगी क्षुब्ध सुर-सेना प्रावृट-घन-सम घिरने ;
कट-कट लगे शीश वीरों के अश्रु-विन्दु-सम गिरने !
किन्तु अवस्था ने असुरों का रण-उत्साह बढ़ाया ;
और उन्होंने भी हिम-गिरिवत दृढ़ हो द्वन्द्व मचाया !

पच-पच हार गए सुर, अरि ने तिल भर पद न हटाया;
असुरों ने इस बार सुरों को अद्भुत शौर्य दिखाया !
कारण भी था स्पष्ट, असुरदल आगे बढ़ा हुआ था ;
उसको विजय-प्राप्ति की आशा का मद चढ़ा हुआ था !

उधर कुछ असुर नभ में जाकर लगे बाण बरसाने ;
रक्त-अस्थियाँ, विषाक्त शस्त्रास्त्रों की झड़ी लगाने !
इस घटना से युद्ध-दशा ने सहसा पलटा खाया ;
पहली बार स्वर्ग-सेना में भय ने पैर बढ़ाया !
आगे बढ़ना कहाँ, वहाँ पड़ चले प्राण के लाले ;
यही बहुत था, यदि कोई यह बिगड़ी बात निभाले !

देख न सकते थे वे अरि को, न ही मार पाते थे;
खोज लगाने के पहले ही खुद मारे जाते थे !
कितने ही निज यानों में चढ़ शून्य-दिशा उड़ते थे ;
किन्तु विफल, आहत हो फिर भूतल पर गिर पड़ते थे !
कुछ धूआँ-सा अकस्मात आँखों में भर जाता था ;
और व्यक्ति बेदम होकर क्षण-भर में गिर जाता था !

अस्तु, देख दल विचल इन्द्र ने, झट गुरु को बुलवाया;
नव विपत्ति का सब रहस्य उनको कहकर समझाया !
सुन गुरु ने हँस हाथ धनुष ले, सबको धैर्य बँधाया ;
कहा, दृढ़ रहो अभी मिटेगी सब असुरों की माया !
शर संधान, लक्ष्य कर अरि को, फिर कुछ बाण चलाए ;
क्षण में नभचारी असुरों के सब रथ बेध गिराए !

बन्द हुआ यह काण्ड, सुरों के जी में जी फिर आया ;
एक बार फिर सुर-सेना-गर्जन ने क्षेत्र कँपाया !
द्विगुण क्रोध कर वायु-वेग से लगी सुर-चमू बढ़ने ;
अबकी बार लगी असुरों में भीति-घटाएँ चढ़ने !

इसी समय निज सेना लेकर जयन्त रण में आया ;
सबसे प्रथम पितृ-चरणों में जाकर शीश झुकाया !
फिर परिचय पा सब बातों का वांछित व्यूह बनाए ;
बढ़ा शत्रु की ओर क्रुधित, रौदे पर बाण चढ़ाए !
पिता-पुत्र के रूप-साम्य पर सबमें अचरज छाया ;
कहने लगे असुर भी अद्भुत है विधिना की माया !

सचमुच समता थी दोनों के अवयव ; व्यवहारों में;
चेष्टाओं में, गति में, स्वर में एवं हुँकारों में ;
इतनी थी कि देख अचरज से भर ही जाता मन था ;
आयु-भेद को छोड़, बताना अन्तर बहुत कठिन था !

अस्तु, कर क्रोध, मन भरे प्रतिशोध-भाव,
चंचला की भाँति दृष्टि सैन्य में फिराता हुआ ;
मानो एक बार ही में निज-पर पक्ष, व्यूह
आदि सभी बातें हृदयंगम बनाता हुआ !
सैनिकों के हृदय उमंगें-सी उठाती हुई
अमल-धवल स्वर्ग-ध्वजा फहराता हुआ ;
धनुष टंकोर, धैर्य तोड़ता विपक्षियों का
विजयी जयन्त चला दिशाएँ गुँजाता हुआ !

सैन्य मध्य आ, सुरों को ललकार, बोला, "धिक !
असुरों के आगे पैर पीछे हो हटा रहे ;
अमर कहाते हुए, हो क्या आज भूल निज
वंश-कीर्ति, भीति मृत्यु से स्वयम् खा रहे ?
सोचो, इस भाँति तुम न ही अपने को निज
देवियों के प्रेम के अयोग्य ही बना रहे ;
किंतु नाम स्वर्ग, सुर-वेश, सुर-सैनिकों का
औ हो दूध निज जननी का भी लजा रहे !

भूल गए हो क्या, कल इन्हीं असुरों ने सुर-
गृहों को जलाया था प्रसन्नता से भर-भर ;
मारा था पलायित, सभीत, शस्त्रहीन सुर-
शिशुओं को, गृह-देवियों को व्यंग कर-कर !

करोगे क्या क्षमा इन्हें ? नहीं, कभी नहीं,
तो बढ़ाओ आगे पैर, वीरो ! बोलो गर्ज हर-हर ;
पड़ो मृगराज-सम असुर-मृगों के बीच,
झपट चपेट मारो शत्रुओं को धर-धर !

जयन्त-वाक्यों का हुआ मंत्र-समान प्रभाव ;
दग्ध सुर-ह्रदों पर गिरा ज्यों समुद्र जल-स्राव !

दलित सर्प-सम क्रोध कर, बना-बना निज व्यूह ;
वाज-वेग से बढ़ चले, सुरपुर-सैन्य समूह !

सुरेन्द्र भी निज हृदय में भर नूतन उत्साह ;
घुसे अरि-चमू-सिंधु में, लेने रिपु-बल थाह !

गूँज उठे फिर जयघोषों से धरणि-शून्य,
कुपित सुरों के मुख-मण्डल तमक उठे ;
दामिनी की सैन्य-सम काली काल-रात्रि मध्य
भालों वाले भाले भलभलाते चमक उठे !
चारों ओर मार-मार, वीरों की हुँकार मध्य
काली-कर के त्रिशूल-खप्पर खनक उठे ;
फिर एक बार सुर-सैन्य-गर्जना को सुन
कोषों में पड़े कृपाण, कटारे झनक उठे !

असुर-चमू के चालकों ने भी स्व-सैनिकों से
कहा ललकार, "देखना न बात चली जाए ;
ऐसी ठान ठानो, शाकभोजी सुरवृन्द के न
फिर रण-रास रचने ही का समय आए !

शैल बन जायँ शत्रों के तो बन जायँ, किन्तु
काश्यपों का पैर रंच भी न पीछे हट पाए ;
सूर्य उगने के पूर्व आज असुरों का ध्वज,
बात है तभी, कि इन्द्रपुरी मध्य फहराए !"

बढ़ा असुरों का मन, सैन्य घिरे मानो घन,
घुमड़-घुमड़, घोर-घोर युद्ध होने लगा ;
बाण-वृष्टि वारि-धारा के प्रवाह मध्य, बड़े-
बड़े रण-सर-तैरुओं का धैर्य खोने लगा !
असि-चपला की चतुराई भरी चालें देख
चतुरों को लाल रंग लाज का भिगोने लगा ;
वह चले खाले, नाले, शोणित-सलिल भरे,
तृणों का समूह मल-मल अंग धोने लगा !

मचा घमासान, तन का न रहा भान, मत्त
गज के समान मत्त सैन्य लगे लड़ने ;
झंझावात मध्य तरु तनों के प्रपात-सम
कट-कट भटों के शरीर लगे पड़ने !
पड़-पड़ असि, मणि-रत्न जड़े मुकुटों से
रत्न, मानो आँखों से अँगारे लगे झड़ने ;
अथवा सुरेश के शरों के शून्य भेदन से
लगे शून्य-छत्र जड़े नखत उखड़ने !

इन्द्र से प्रचण्ड था जयन्त का अनन्त शौर्य
शत्रुओं में चारों ओर प्रलय-सी ठाने हुए ;
बैठा वायु-वेगवान यान में क्रुधित हुआ
नागपाश - जैसे निज धनुष को ताने हुए !

द्रोण के समान द्रुत, पार्थ के समान तीक्ष्ण
शरों से, जो शत्रु-सैन्य में थे मानो जाने हुए ;
छाँट-छाँट शत्रुओं को मार रहा था यों मानो
सभी शत्रु-सैन्य उसके थे पहचाने हुए !

वाण क्या थे, छूटते थे मानो विष-व्याल युत्थ,
एक-एक बीस-बीस दस्युओं को काटते ;
कौन विष मंत्र द्वारा उनका उतारता जो
आप मंत्रवादियों ही को थे मृत्यु बाँटते ?
छूटते ही थहराते, फहराते, झहराते,
गिरते जहाँ थे वहीं शव-पुल पाटते ;
जिस ओर जाते उस ओर दल ही के दल
दृष्टि आते दस्यु भूमि पड़े धूल चाटते !

किन्तु जयन्त-हृदय में इस रण से न हुआ सन्तोष ;
उसको था हिरण्यकश्यप पर ही सर्वाधिक रोष !
और असुरपति कहीं सैन्य में नजर नहीं आता था ;
प्रयत्न कर भी जयन्त उसको देख नहीं पाता था !
जयन्त ने इसलिए अन्त में यही मंत्र मन ठाना ;
कि चाहिए अरि-शिविरों में काश्यप का पता लगाना !

कहा सारथी, चक्र-रक्षकों से, सचेत हो जाओ ;
पूर्ण वेग से यान शत्रु-सेना के बीच बढ़ाओ !
रुकें न अश्व, न पहुँच जहाँ तक शत्रु शिविर में जाएँ;
अन्य न कोई भी सेनानी साथ हमारे आएँ !
अतः बढ़ा रथ, देख यह असुर सेनानी चकराए ;
भाँति-भाँति की आशंकाएँ कर-करके घबराए !

किया प्रयत्न उन्होंने भी भरसक धावा देने का ;
अथवा जयन्त को ही धोखा देकर धर लेने का !
किन्तु जयन्त-शरों के सम्मुख किसका वल चलता था ?
जो सम्मुख आता था, तत्क्षण भूमि पड़ा मिलता था !
तदपि लगा ज्यों-ज्यों जयन्त-रथ निकट शिविर के आने ;
त्यों-त्यों लगे प्राण असुरों के अधिक-अधिक अकुलाने !

अव अरि भी दृढ़ व्यूह रच, मरण-प्रतिज्ञा ठान ;
खड़े हो गए मार्ग में, अचल, हिमाद्रि-समान !

तुमुल युद्ध मच गया, कठिन हो गया यान का वढ़ना ;
करते हुए सामना अरि से, शव - ढेरों पर चढ़ना !
उधर असुरगण ने फिर मिल भीषण षड़यंत्र रचाया ;
हानि उठाकर भी रथ के चक्रों को काट गिराया !

फिर जयन्त पर लगे सभी मिल वाण-वृष्टि वरसाने ;
जयन्त का वध ही करने की सुदृढ़ प्रतिज्ञा ठाने !

क्षण में गए चक्र-रक्षकगण एक-एक कर मारे ;
एक-एक कर गिरे अश्व भी क्षत-विक्षत हो सारे !
कटा सारथी के हाथों का धनुष, परिघ भी टूटा ;
वज्र कवच भी वज्र-शरों से जगह-जगह से फूटा !

रात्रि समय था, सुर-सेना को कुछ भी पता नहीं था ;
नहीं खवर ले जानेवाला कोई मित्र कहीं था !

देख यह दशा सारथी, ले कर में असि-ढाल ;
छोड़ यान, चल दिया निज सैन्य-दिशा तत्काल !

उधर श्रवण कर सारथी से सारे सम्वाद ;
असुरगणों की दुष्टता, जयन्त का उन्माद !

चक्र-रक्षकों का मरण, एवं रथ की हानि ;
क्रुधित इन्द्र-मुख हो उठा तप्त सुवर्ण समान !

चढ़ा क्रोध, सुरपति के जलने लगे अंग ज्यों सारे ;
जड़ने लगे अशोक-पुष्प - सम आँखों से अंगारे !
अधर फड़कने लगे, भृकुटियाँ भीति लगीं फैलाने ;
दशन-पंक्तियाँ लगीं स्वतः आपस में मिल-मिल जाने !
तन था वहीं, किंतु मन रह-रह लगा उड़ानें भरने ;
प्रतिपल उनको लगा प्रसव के युग की तरह अखरने !

तुरत-कवच आच्छादित 'ऐरावत' को निकट मँगाया ;
और फेंककर परिघ, काल-भू-सम-निज धनुष उठाया !
आज्ञा दी, दो ऐरावत की शुण्डों में करवालें ;
तथा छः रथी तन-रक्षक बन निज-निज चाप सम्हालें !
छोड़ यान, हो गजारूढ़, फिर, लिए उल्लिखित साथी ;
हूल दिया सुरपति ने निर्भय शत्रु सैन्य में हाथी !

लिया शरासन हाथ, प्रलय ने मानो धनुष उठाया ;
क्षण में असुर-सैन्य के हृदयों में भय-राज्य जमाया !
ऐरावत के लगे पृथक ही चलने सात दुधारे ;
धान्य क्षेत्रवत् उसने अरि के दल के दल संहारे !
अंगरक्षकों के वाणों की वृष्टि अलग थी जारी ;
गूँज रही थी क्षण-क्षण में सुरगण की जय-किलकारी !

असुर-सैन्य भी लगी प्रथम तो मिल बाधा पहुँचाने ;
किंतु जिस घड़ी सुरपति ने कर वीर हाक शर ताने;
मार्ग हो गया ज्यों गज - सम्मुख काई फट जाती है ;
अथवा देख सूर्य को तम की सेना हट जाती है !

मची खलबली असुर - सैन्य में, होश उड़े धीरों के ;
सुरपति के तीरों के आगे बिछे खेत वीरों के !

मानो मत्त गयन्द लगा तृण-दल पर क्रोध जताने ;
अथवा क्षुधित सिंह, अज-युत्थों को घर धूल मिलाने !
भाग चले अरि औरों के धीरज का धैर्य छुड़ाते ;
लज्जा, क्षोभ, शोक से जलते, सब की दृष्टि बचाते !

वृद्ध हो चली असुरों की जय-आशा भर-यौवन में ;
शोक-नीलिमा बढ़ उनके मन से चढ़ गई गगन में !

देख सुअवसर सुर-सेना ने भी निज पैर बढ़ाया ;
असुरों ने भी समझ-बूझकर अपना मत ठहराया !
छोड़ वृद्ध सुरपति को वे सुर-सेना पर आ टूटे ;
और सुरों के सभी मनोरथ किये ततक्षण झूठे !

पुनः जहाँ का तहाँ उसी विधि युद्ध हो गया जारी ;
भूल गए सब, किधर गए हैं ऐरावत - सहचारी !

इधर विना पीछे मुड़ देखे, सब भय-चिन्ता त्यागे ;
जयन्त की रक्षार्थ बढ़े जाते थे सुरपति आगे !
इस क्षण मानो उनके तन में सौ इन्द्रों का बल था ;
तरुण अवस्था का-सा ही चापल्य और कौशल था !

न ही भीति थी उन्हें शत्रु-सेना से घिर जाने की ;
न ही किसी घटना-वश रण-रँग के पलटा खाने की !

देखकर उनका अद्भुत शौर्य, आज थे उनके चर तक चकित.
कदाचित होता अचरज उन्हें, स्वयं भी देख शक्ति निज अमित !

किन्तु था उन्हें न कुछ भी भान, इस समय थे वह रण-रस पगे;
जा रहे थे आगे अरिवृन्द, और पीछे उनके शर भगे !
किस समय लेते थे, किस समय चला देते थे वह निज वाण ;
निकट बैठे साथी भी आज न सकते थे उनके यह जान !

कवच-रक्षित ऐरावत अलग, बन रहा था असुरों का काल ;
विन्ध्य-गिरि था मानो फिर रहा तोड़ता सर में भरे मृणाल !
सहस्रों का करतीं आखेट, चल रही थीं उसकी तलवार ;
सहस्रों उसके कुचले हुए, पड़े करते थे हा-हाकार !
जिधर पड़ता कृतान्त-सम टूट, व्यूह-रचना हो जाती व्यर्थ ;
न देता साहस ही कुछ काम, न रण-कौशल का रहता अर्थ !

दृश्य इतना विचित्र बन गया कि कितने ही दल कर रण बन्द ;
लूटने लगे, इन्द्र के नव्य, इस समर-कौशल का आनन्द !

किंतु इन्द्र का था नहीं इन बातों पर ध्यान ;
चले जा रहे थे बढ़े वह तो यन्त्र-समान !

शर बरसाते, ढेर शवों का लगाते, दैत्य-दल दहलाते
मानो प्रलय मचाते हुए ;
अन्त में अनन्त सम पन्थ पार कर इन्द्र
पहुँचे जयन्त के निकट सुख पाते हुए !
किंतु था जयन्त को कहाँ यह ध्यान, घूम वह तो
रहा था चक्र बना वाण बरसाते हुए ;
मानो मृत्युदूत-यमराज मृत्यु-यन्त्र लिए
घूम रहे हों उसे निरन्तर चलाते हुए !

बार-बार दस्युओं के सैन्य बाँध-बाँध दल
क्रोध के पयोद बन घिर-घिर आते थे ;
किंतु विजयी जयन्त के शरों की परिधि में
जो पग बढ़ाते वे न लौट फिर जाते थे !
शव-कोट क्या था, जाल था समुद्र-भ्रमरी का
शत्रु-सैन्य मानो मच्छरादि मँडराते थे ;
जहाँ धरते थे पैर जाल में तुरन्त उन्हें
बाँध शर-जाल स्वर्गधाम पहुँचाते थे !

काम न देती थी असुरगण की कोई चाल ;
वे पतंग थे, और था सुरपति-सुवन मशाल !

किंशुक समान व्रणपूर्ण हो रही थी देह,
तदपि शिथिलता प्रगतियों में थी न कहीं ;
देख सुत-शौर्य सुरराज-मन अभिमान
भर उठा, रक्षकों की आँखें थिर-सी हो रहीं !
अन्त में महावत, सुरेश-अंग-रक्षकों के
जयघोष से जयन्त की समाधि खुली कहीं ;
हाथ रुके, नेत्र उठे, ओष्ठ हिले और फिर
सुधिहीन हुआ वह वीर गिर गया वहीं !

गिरते देख जयन्त को, सहम उठे सुरराज ;
चला जायगा क्या, प्रभो ! व्यर्थ सभी श्रम आज !
शिथिल पड़े कर सोच यह विकल हो चला चित्त ;
छिन न जाय इस आयु में कहीं आयु का वित्त !

उधर सुअवसर देख असुर-सेना ने शर सन्धाने ;
मानो शेष सहस्र मुखों से जिह्वा लगे हिलाने !

क्षण भर में गजसहित उन्होंने छिपा दिया सुरपति को ;
वारांगनाएँ 'हा-हा' करतीं भगीं देख इस कृति को !
लगी दिखाई देने शशि-मुख पर चिन्ता की छाया ;
श्याम पड़ गया रजनी का मुख, पवन-हृदय घबराया !

पुनः हो सजग जिस घड़ी इन्द्र ने लिया फिर स्वधनुष तूणीर;
उसी क्षण, क्षण भर में मिट गई, मृत्यु की वह छाया गम्भीर !
न क्षण में रहा वह असुर-शौर्य, न वह दुर्गम वाणों का पाश;
न मूर्छित जयन्त का तन शत्रु के करों में पड़ने की आश !

फिर उसी भाँति क्रुधित सुरनाथ गर्जकर शून्य गुँजाने लगे;
प्रतिक्षण सहस्रशः अरि-सैन्य को गिरा धूल मिलाने लगे !

एक पल में असुरों का गर्व खर्व हो मिट्टी में मिल गया;
कुमुदिनी के कुसुमों की जगह भाग्य से सरसिज-वन खिल गया !
युद्ध करना कैसा, शर-धनुष पर चढ़ाना हो गया असाध्य;
लगे होने उठने के पूर्व ही पुनः गिरने को अरि बाध्य !
शरों की आँधी से अरि-सैन्य-दलों की आँखें मिंचने लगीं;
उलूकों के दल पर ज्यों तीक्ष्ण-रश्मि-असि रवि की खिंचने लगीं !

अन्त में असुरों ने मिल रचा एक नूतन भीषण षड़यन्त्र;
सभी कर जयन्त-तन को लक्ष्य, चलाने लगे बाण पढ़ मंत्र !
देख यह असुरों का असुरत्व, मूर्छित पर सज्ञान आघात;
चढ़ा सुरपति को अतिशय क्रोध और मानो बन यम साक्षात्;
वज्र-सम गर्जन करते हुए, उन्होंने लिया ब्रह्मशर खींच;
और बोले, "हे दुष्टो ! नाच रही क्यों शीश तुम्हारे मीच ?

सहन कर चुके बहुत हैं देव, आज तक असुरों के अन्याय;
और होता है मुझको ज्ञात कि यह होगा अन्तिम अध्याय !
न समझो सुरगण हैं असमर्थ, जानते नहीं आसुरी युद्ध;
या नहीं हैं वैज्ञानिक समर में तुम्हारी ही भाँति प्रबुद्ध !"

कह धरा ज्यों ही धनु पर बाण, चंचला नभ में झलमल उठी;
भूमि काँपी, चकराया शून्य, उपग्रह-नखत-चमू हिल उठी !
पर्वतों के थर्राए पैर, दिशाएँ छोड़ चले दिगपाल;
चराचर में व्याकुलता बढ़ी, निकलने लगी देह से ज्वाल !

सभी को अनुभव होने लगा, अभी होने वाली है प्रलय;
बिना ही अग्नि भस्म हो विश्व, आ गया है निश्चय वह समय !
असुर भी स्तम्भित बन, हो खड़े, देखने लगे इन्द्र की ओर;
नापने लगी चला प्रति पलक, शून्य-भूतल के अन्तिम छोर !
मची उल्कापातों की धूम, उबलने लगा सिंधु का हृदय;
पक्षिगण युत्थ बाँध उड़ चले, भग चले वनचर भी हो सभय !

अचानक समर भूमि में प्रात-काल की शुभ्र प्रभा छा गई;
निशा होकर मानो भयभीत, नखत-हीरक-कनियाँ खा गई !
दिखाई दिए उसी क्षण शून्य मध्य कर त्रिशूल-डमरू लिए;
गले में अहिमाला, शिर गंग, व्याघ्र-चर्माम्बर धारण किए—
भस्म में वस्त्राच्छादित दीप-शिखा-सम, छिपी कान्तिमय देह;
भाल-शशि, भरी हृदय में दया, दृष्टि से ज्यों बरसाते स्नेह ;

तेजमय मुखमंडल से प्रभा दिशाओं में छिटकाते हुए;
उमापति, नन्दी-आश्रय लिए, खड़े मुद-मन मुसकाते हुए !

देखकर सहसा सेवा-सहित, प्रेम से सुरेन्द्र-शिर झुक गया।;
भूल संग्राम सैन्य प्रत्येक, अर्द्ध मूर्च्छित-सा हो रुक गया !
दूसरे ही क्षण घन-गम्भीर गिरा से कहने लगे महेश;
"विपति में चाहिए न यों धर्म-नियम को देना भुला सुरेश !
तुम्हें है ज्ञात, पुत्र ! सुर-संघ-मध्य यह वैज्ञानिक संग्राम;
तथा वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रादि से लिया जाना रण में काम !
आत्म-रक्षार्थ और समबली के लिए भी है आपद्धर्म;
अज्ञ जन पर तो इनका वार गिना जाता है घोर कुकर्म !
और सुर क्या, मनुष्य के लिए भी स्वरक्षा रण है तब उचित;
जबकि शस्त्रास्त्र, शक्ति, औसान, योग्यता में अरि हो सम-सजित !
क्लान्त, निद्रित, निःशस्त्र, तटस्थ, रुग्ण, निर्बल जन पर आघात;
दिखाता है कल्पों तक कष्ट, प्राणियों को रौरव में तात !
उलंघन तुम ही करने लगो, तात ! यदि इन नियमों का सतत;
तो कहो कितने क्षण तक स्थिर, रह सकेगा यह मनहर जगत !
लिया है फिर तुमने तो ब्रह्म-अस्त्र, सारे अस्त्रों का नृपति;
गिरा सकता है जो सब सृष्टि पर प्रलय-सदृश महान विपत्ति !

व्यर्थ ही है, तात ! यह भी कह बताना तुम्हें,
शक्ति - अधिकार बुद्धि-हीनों के न बाने हैं;
शक्ति - अधिकार के ही साथ है दायित्व बँधा,
शक्ति-मद के कुपरिणाम जग - जाने हैं !
इसीलिए शक्ति जितनी हो उतने ही श्रेष्ठ
गुण शक्तिमान - अर्थ जाते धर्म माने हैं;
इसीलिए श्रेष्ठ जन शक्ति दिखाने से नहीं,
न्याय, शान्ति, क्षमा द्वारा जाते पहचाने हैं !

यदि सुरराज ! सिन्धु, सूर्य क्रोध - अन्ध बन
नीति छोड़ दें, तो कौन उनके समान हैं ?
किन्तु नहीं छोड़ते हैं, इसीलिए हैं वे श्रेष्ठ;
शक्ति नहीं, तात ! न्याय शक्ति का निशान है !
शत्रु प्रति भी न करता है जो अनीति, जिसे
निज त्रुटियों का सबसे अधिक ध्यान है;
निज मन पर पूर्ण शासन किया है प्राप्त
जिसने सुरेश ! वही सच्चा शक्तिमान है !

तात ! नियम यह भव्य, इसी में है सुर-गौरव;
तजते हैं मर्याद क्षुद्र पाकर बल-वैभव !
अमर्याद, छल, काम, क्रोध वश अनय-आचरण;
नहीं श्रेष्ठ का तात ! अधम जन का है लक्षण !"

सुरपति गद्गद कंठ, जोड़कर, करते हुए प्रणाम;
तृपित दृष्टि से, मुग्ध देखते वह शिवमूर्ति ललाम ;
बोले, "देव ! क्षमा हो, अब फिर न यह भूल होवेगी !
अब न बुद्धि मम कभी धैर्य भय-विपत्ति में खोवेगी !"

सुनते ही वह मूर्ति हो गई अन्तर्धान गगन में;
फैल गया तम, गई न जाने कहाँ प्रभा वह क्षण में !
क्षण भर रहे सभी स्तम्भित-से, फिर कुछ लगे सम्हलने;
मानो समाधिस्थ योगी के लगे नयन-पट खुलने !
अथवा स्वप्न-भंग होकर हों सहसा शिशुगण जागे;
और चकित हो रहे देखकर दृश्य दूसरा आगे !
सजग हुए सबसे प्रथम सुरपति - दल के व्यक्ति;
और उन्होंने ही प्रथम, की प्रयुक्त निज शक्ति !

वे सब मिल तत्क्षण जयन्त को हौदे में ले आए;
और त्वरा से फिर पद निज सेना की दिशा बढ़ाए !
सुरपति लगे उसी भुज-बल से सीधा मार्ग बनाने;
क्षण-क्षण में शतशः अरि-सेना को यमपुर पहुँचाने !

देख असुर भी पिता-पुत्र को यों हाथों से जाते,
लगे बढ़ाने निज-निज सेना क्रुधित हुए, बल खाते !
कहा सैनिकों से "यह सब थी सुर-मंत्रों की माया;
इसी चाल से जयन्त को है सुरेन्द्र ने ले पाया !
है धिक्कार, बीच सेना में इन्द्र अकेला आकर;
लिए जा रहा है जयन्त को निर्भय बना उठाकर !"

परन्तु सुरपति उसी विधि, अरि को देते त्रास;
पहुँच गए ले पुत्र को, सुर-आहत-आवास !
चतुर भिषग भी ततक्षण, छोड़ अन्य व्यापार;
करने लगे जयन्त के व्रणादि का उपचार !

इससे पिटे हुए असुरों को चढ़ा और भी रोष;
लगे और वे देने इसके लिए परस्पर दोष !
कई लगे देने रह-रह निज सेना को धिक्कार;
कई लगे असुराधिप पर करने दुर्वच बौछार !

फिर उनके मन पर प्रतिहिंसा ने अधिकार जमाया;
और पराजय की लज्जा ने उसे अधिक भड़काया !

वैसे भी जयन्त बाणों से छुटकारा पाने से;
और इन्द्र के जयन्त को ले रण से हट जाने से !
आशा बँधी प्रकृत ही असुरों को फिर जय पाने की;
एक बार फिर सुर-दल में भय, हलचल फैलाने की !

इसीलिए वे लगे सैनिकों में उत्साह जगाने;
विजय-प्राप्ति के अवसर के कल्पित उद्यान दिखाने !
भोले सैनिक भी दलपतियों की बातों में भूले;
विजय-प्राप्ति की आशा बँधते ही सबके भुज फूले !
फिर वे जयघोषों से, रह-रह नभ को लगे कँपाने;
नवोत्साह से फिर युग दल में लगे वाद्य घहराने !

उसी समय कुछ ग्रह आ पहुँचे रण में हाथ बटाने;
राष्ट्र-वेदि पर निज श्रद्धा-बल के शुचि सुमन चढ़ाने !
सूर्यदेव तो अतल लोक-यात्रा में लगे हुए थे;
एवं शशि निज छत्तीसी[1] के रँग में रँगे हुए थे !
वहु-विवाह-फल-क्षयी विवश, वह युद्ध न कर सकते थे;
हाँ, सुर-सेना के पथ से तम बाधा हर सकते थे !

वढ़ा मंगल ही सबसे प्रथम, मेष को एड़ लगाता हुआ;
कूदने लगा मेष भी मत्त, "ऊँ ऊँ भ्याँ भ्याँ !" दुहराता हुआ !
देखकर हँसे असुरगण और, व्यंग्य गिन-गिनकर कसने लगे;
देख-सुन भौम जल उठा, व्यंग्य उसे वृश्चिक-सम डसने लगे !
सुरथ ने ताड़ लिया यह भाव, औ' किया सैनिक गण को विरत;
किंतु अब थे कब संभव भौम-हृदय के क्षत यों भरने तुरत ?

अतः हो क्रुधित उठा सर-चाप, किया मंगल ने दंगल खरा;
एक क्षण में कर शर-बौछार, शत्रु दल में अतिशय भय भरा !
चला की भाँति पंक्ति की पंक्ति भेदने लगे भौम के वाण;
पूर गंगा-लहरों की तरह भर चले यमपुर में अरि वाण !

---

१. छत्तीस पत्नियाँ (नक्षत्र)

जल-प्रलयवत् उसकी शर-धार, बहा ले चली असुर दल साज;
डगमगा गोते खाने लगा, असुर सेना का युद्ध जहाज !

मेष भी अश्वों को कर मात, मचाने लगा दलों में धूम;
साथ ही शर के उसके शृंग शत्रु का हृद लेते थे चूम !

देख यह स्वहास्य का परिणाम, लगे अरि करने पश्चाताप;
किंतु था व्यर्थ पीटना लीक, चला जब गया हाथ से साँप !
पर करें क्या न और क्या करें ? सूझता था उनको यह भी न;
अमर थे ग्रह, न साध्य था उन्हें मारना या करना बलहीन !

तब कुछ सोच असुर सेनापतियों ने रच नव अभिनय;
रूप भेड़ियों के धर रिपु-दल में फैलाया अति भय !
देख मेष उत्साहहीन हो लगा हिचक भय खाने;
एवं बार-बार भग चलने की इच्छा दिखलाने !
समझ भौम ने लक्ष्य भेड़ियों को कर शर फटकारे;
लगे भेड़िये भगने ले-ले अपनी जान बिचारे !

किन्तु इसी क्षण एक दूसरा असुर भेड़िया बनकर;
पीछे से आ गिरा मेष पर प्रलय-मेघ-गर्जन कर !
फलतः छुटे मेष के पग, वह भाग चला सुर-दल में;
एवं खींच गिरा मंगल को दिया असुर ने पल में !
हा-हाकार मचा, मंगल की ओर लगे सुर बढ़ने;
उधर असुर भी लगे घटा-सम रह-रह पुनः उमड़ने !

देख राहु ने तुरत केतु को निज रथ में बैठाया;
और क्रुधित हो शत्रुदलों में आगे पाँव बढ़ाया !

राहु-सारथी लगा जरख-रथ की गति तीव्र बनाने;
तथा केतु दोनों हाथों से लगा कृपाण चलाने !
छिड़ा युद्ध फिर नए जोश से, असुर-चमू घबराई;
किस विधि लड़े अमर रुण्डों से समुण्ड व्यक्ति लड़ाई ?

हुई कठिनता एक भगा तो प्रबल दूसरा आया;
उष्ट्र भगाया तो हाथी ने आकर पैर जमाया !
जरख अलग ही लगे नाक-मुख नोच-नोच व्रण करने;
भीत सैनिकों के हृदयों में और अधिक भय भरने ।
फलतः लगे सोचने दलपति किस विधि हो छुटकारा ?
बोला एक, "राहु था मित्रो, पहले बन्धु हमारा !

अतः उसे वह याद दिला कर अपनी ओर मिलाओ;
मिले सफलता तो सुर-दल से दूना वैर चुकाओ ।
तनिक झुका तो सुरगण का उठ जाएगा विश्वास;
विना युद्ध ही इस प्रकार होवेगा रिपु का नाश !"
कहा सुरथ ने, "किन्तु चाल यह चलनी बहुत कठिन है !
उनका सुर-वृन्दों में रहते बीत चला जीवन है !"

प्रस्तावक ने कहा, है प्रयत्न में क्या हानि ?
अतः एक ने किया उठ राहु दिशा प्रस्थान !

जा परिचय करके फिर बोला, "असुर वंश में होकर,
आए हो असुरों से करने रण कैसे सुध खोकर ?
भूल गए क्या इन्हीं सुरों के छल का तो यह फल है ;
कि है पृथक धड़ आज तुम्हारा, सिर यह जुदा विकल है !
फिर भी दस्ते बने कुल्हाड़ी के तुम उनके कर में;
पड़े शत्रु-कर जड़ आयुधवत भय भरते हो घर में !

क्या है धर्म स्वबन्धु-गणों के विरुद्ध अस्त्र उठाना ?
मात्र ग्रहों में मिल जाने से निज सम्बन्ध भुलाना ?"
किंतु राहु भी था न सहज फन्दे में फँसनेवाला;
उसने समझ भाव असुरों का निज गुब्बार निकाला।

बोला, "जब थे असुर, तब हमें तुम गिनते थे नीच;
इसीलिए था पड़ा बैठना मुझे सुरों के बीच !
तब तुम सभी श्रेष्ठताओं के बनकर ठेकेदार;
सेवा करते भी करते थे हमपर चरण-प्रहार !

भूल गए क्या वे दिन जो कहते हो हमको भ्राता ?
सच है विपति समय ही जन को स्मरण सत्य है आता !

किन्तु व्यर्थ है हमें अब दिखलाना वह चित्र;
चढ़ती हाँडी काठ की नहीं दुबारा मित्र !"

कह उसने फिर पूर्ण वेग से आगे यान बढ़ाया;
क्षण में निज कृति-कौशल से अरि दल का हृदय हिलाया !
केतु रुण्ड ने किया शुरू सबको निर्मुण्ड बनाना;
'आ पाड़ोसिन मुझसी हो' को कर चरितार्थ दिखाना।

चारो ओर मच उठा क्षण में सकरुण हा-हाकार;
कमल - वनों को लगा मिटाने मानो शीत तुषार !
उधर जमाया 'राहु'-दृष्टि ने सबसे बढ़कर दाप;
जिसको घूरा उसे उसी क्षण चढ़ा जोर से ताप !
हाथी चीख-चीख कर भागे फेंक-फेंक असुरों को;
ऊँट लगे गिर-गिरकर घायल करने निशाचरों को !

सुस्त हो चले घोड़े, सैनिक लगे ठण्ड से गिरने;
मानो लगे हृदय में सबके घन अधैर्य के घिरने !

फलतः फिर असुरों में निज रक्षा की चिन्ता छाई;
सैनिक दलपतियों की मिल-मिल करने लगे बुराई !
कुछ सुन उत्तर मिला राहु से लगे स्वयम् पछताने;
अपने व्यवहारों ही को रह-रहकर दोष लगाने !

अन्त असुरों ने एक सफल उपाय किया
छोड़ दिए ला कई शिकारी श्वान दल में;
देखते ही केतु - रथ - वाहक उठाए कान
भागे, मानो ग्राह देख मत्स्य भागे जल में !
राहु रोकने के सारे यत्न कर हार गया
किन्तु यान जा घुसा सुरों के बीच पल में;
छूट चले हास्य के फुहारे, सैन्य सारे भूल
गए युद्ध को क्षणिक हास्य कल-कल में !

उधर देख कर केतु का यों होता अपमान;
करते उनकी मूर्खता का भरपेट बखान !
करते अपनी योग्यता पर अतिशय अभिमान;
तुरत क्रुद्ध शनि ने किया युद्ध-दिशा प्रस्थान !

मचा देखते - देखते रण गज - द्वन्द्व समान;
लगे हाथ के साथ ही छुटने अरि-प्रौसान !

जमा रण - रंग वृक तीखे शृंग मार-मार
लगा अश्व-मतंगों के उदर विदारने;
साथ शनि-खंग के प्रहार मानो शीश भार
लगे सारे शत्रुओं की देह से उतारने !

खंग से भी खारा हुआ दृष्टि का प्रभाव अरि—
दन्त-तृण लगे त्राहि - त्राहि ज्यों पुकारने;
घूम गईं आँखें जिस ओर उस ओर दस्यु
ही क्या लगे मत्त गज - युत्थ भी चिंघारने !

वृषभ-शृंग की मार से, उधर भग चले श्वान;
फिरा केतु भी, युगल ने फिर छेड़ा घमसान !

आई असुरों के लिए फिर चिन्ता की रात;
लगे सोचने वे पुनः कुछ नूतन उत्पात !

अन्त में उन्होंने उसी नीति का प्रयोग कर
सिंह बन सारी रणभूमि में मचाया शोर;
देख शनि-वृषभ उठाए पूँछ भाग चला,
यद्यपि लगाया शनि देव ने बहुत जोर !
दस्यु हँस उठे, देख क्षुभित मृगेश - सम
कूद शनि फरसा उठाए बढ़े शत्रु-ओर;
अवसर देख रिपुओं ने भी बनाया पाश
घेर शनिदेव को छिड़ा दिया समर घोर !

देख दशा यह क्रुद्ध हो, हो निज अश्व सवार;
खींच खंग, की शुक्र ने सिंह-सदृश हुँकार !
और दूसरे क्षण पड़ा जा अरिदल के बीच;
ज्यों गयन्द-दल पद्म - दल लगा मिलाने कीच !

उधर बढ़ाया बुध ने भी आगे अपना शार्दूल;
देख भागने लगे सिंहजी सब कृति-कौशल भूल !

क्षुभित हुए सारे ग्रह, मिलकर लगे मचाने द्वन्द्व;
भूल चले असुरों के दलपति सब कौशल-छल-छन्द !

भौम-केतु-शनि सब जब बाहन पा अरि हृदय कँपाते;
लगे घूमने ज्यों गयन्द तृण कुल का नाम मिटाते !
इसी समय सुरपति ने आकर की रण में ललकार;
सुनकर मानो हुआ सैन्य में विद्युत का संचार !

वज्र-गर्जना कर सुरदल ने कँपा दिया रणक्षेत्र;
चकित दृष्टि से लगे देखने नभ के लाखों नेत्र !
फिर शस्त्रों की झनझनाहट सुन बढ़ने लगीं उमंगें;
रह-रह लगीं वीर हृदयों में उठने रौद्र तरंगें !

सुन निज सेना विचल उधर आगया असुरपति-मंत्री;
सुनकर जिसकी हाक बज उठी असुरों की हृद-तंत्री !
भीम-गर्जना कर उसने भी असुरों को ललकारा;
बोला, "जो सुर हिल उठते हैं सुनकर नाम तुम्हारा ;
उनके सम्मुख होते हो तुम यों चल-विचल अधीर ?
रक्खो याद ! 'इष्ट खर' के हो काश्यपवंशी वीर !"

लगे पिशाचादिक रह-रहकर करने शब्द भयानक;
लगी अग्नि की लपट प्रगटने दल में कहीं अचानक !
कहीं बरसने लगीं अस्थि, शोणित की कहीं फुहार;
कहीं लगी उपलों की वर्षा करने भय-संचार !

अपना हाथ दिखाई देना कठिन होगया जन को;
उसपर लगा बवण्डर उड़ने ले सैनिक-वाहन को !

बल पकड़ा असुरों ने, सारा सुरदल पड़ा विपति में;
भूल गए ग्रह गण भी सारी कृति-गति इस दुर्गति में !
सभी दिशाओं में रिपु करने लगे मुदित किलकारी;
बढ़ने लगी चमू असुरों की भर-भर फिर हुँकारी !

बना उसी क्षण युद्ध में, एक नवीन बनाव;
बदल चले लखकर जिसे असुरों तक के भाव !

सुरथ और बुध मध्य छिड़ा था तुमुल वाण-संग्राम;
दोनों कुशल धनुर्धारी थे, दोनों थे बलधाम !
सब छल किए, न पर कोई भी अरि पर जय पाता था;
दोनों दिशा वाण जो आता, वह ही कट जाता था !
अतः सुरथ का गज क्रुद्धित हो बुध ने बींध गिराया;
एवं यह आघात सुरथ की दृष्टि में नहीं आया !
फलतः गज के साथ-साथ ही सुरथ गिरा भूतल पर;
देख उधर बुध भी जा पहुँचा निकट तुरन्त उछलकर !
और सुरथ सम्हले तब तक वह जा बैठा छाती पर;
गर्ज उठे सुर भी लख बुध को जय पाते घाती पर !
हा-हाकार मचा असुरों में, हुआ भीति-संचार;
उधर खंग पर कर धर, करते हुए वीर हुँकार;
बुध ने कहा सुरथ से, अब हो मरने को तैयार;
या प्रण कर कि न लेगा फिर सुरगण-विरुद्ध हथियार !
कहा सुरथ ने भी, तयार हूँ मैं, हां, करो प्रहार;
आशा करो न, मैं कोई वच दूंगा हो लाचार !
सुन सक्रोध ले खंग दिवाकर-सुत ने हाथ उठाया;
किंतु इसी क्षण शशि ने 'हैं-हैं' कर बुध को चकराया !

बुध ने शून्य दिशा देखा, शशि बोले, "क्या करते हो ?
पतित शत्रु पर खंग उठा जीवन में अघ भरते हो ?

क्षणिक लाभ के लिए यों, तज स्वधर्म की शङ्क;
क्या लोगे सुर-नाम पर, प्रिय, तुम अमर कलङ्क ?

फिर क्या यह वीरत्व सुरथ का है इस नय के योग्य ?
सोचो ! इस विधि बनते हो तुम कायरता के भोग्य !"

सुन सहसा मानो बुध को भी सुनीति की स्मृति आई,
एवं मन ने भूल समझ, निज नीची दृष्टि झुकाई !
क्षण भर चुप रह बोला, "मुझको क्षमा करें, हो क्रुद्ध
भूल गया था मैं कि आचरण है यह नीति-विरुद्ध !"

फिर असि नत कर, निज कर का दे शूर सुरथ को आश्रय ;
उठा, कहा "निज दल में जाओ वीर, भले ही निर्भय !

भूल जाइये इस अभिनय को, जो था रोषाधीन ;
वैसे सुरगण से पाएंगे असुर अनीति कभी न !
हाँ, यह विचारने का तजता हूँ सिर भार तुम्हारे;
कि है कहाँ तक उचित आज का युद्ध विरुद्ध हमारे !
जो वीरत्व दिखाया है तुमने इस कठिन प्रहर में,
क्या है शोभावह उसका उपयोग अनीति-समर में ?

इतना सोचे बाद, अगर आकांक्षा हो, फिर आना;
एवं अपनी तृषा समर की मन भर खूब बुझाना !

सुरथ ! नहीं है देववृन्द को हिंसा प्यारी;
स्वतन्त्रता-रक्षार्थ विवश है यह तैयारी;

अन्यथा न है लेश द्वेष हमको असुरों से ;
रण में भी न मिलेगी तुमको अनय सुरों से !
असुर करें चाहे कपट, सुर बरतेंगे नीति ही;
सुर करते हैं समर भी अरि प्रति रखकर प्रीति ही !"

सुन गद्-गद् हो सुरथ ने बुध से कहा सप्रीति;
"जय न कर सकी भी जिसे सुर-सेना की भीति !

सुर सेना की भीति और संग्राम-कुशलता;
जीत सकी है उसे आपकी धर्म-अटलता !
मित्र ! न अब से सुरथ अनय का भागी होगा;
इस रण में भी वह छल-नय का त्यागी होगा !

रख देता मैं अभी शर, किन्तु नहीं है धर्म;
बीच युद्ध में छोड़ना अपना स्वीकृत कर्म !"

कह, प्रणाम कर, वह गया निज सेना की ओर;
बुध भी आगे को बढ़ा, सुन होता कुछ शोर !

देखा जिस-जिस असुर ने यह बुध-सुरथ-प्रसंग;
उन सब ही पर चढ़ चला इस नव-नय का रंग !
निश्चय करने लगे वे तजने को छल-नीति;
एवं करने को समर सत्य-सहित तज भीति !

किन्तु इसी क्षण उस थल आ की मंत्री ने हुँकार;
जिसे देख मानो असुरों पर बरसी अमृत-फुहार !
फिर आसुरी भाव ने उनपर आ अधिकार जमाया;
फिर विद्युत्वत उनके हृदयों में नव-बल भर आया !

द्विगुण वेग से वे सुरदल पर लगे आक्रमण करने;
क्षण-क्षण जय-घोषों से उनके लगी भूमि थरहरने !

उधर इन्द्र भी मानो पाकर विद्युत से सन्देश;
आ पहुँचे रक्ताक्त परिघ ले, मानो क्षुभित मृगेश !

कर गर्जन अरिदल पर टूटे, बढ़ा सुरों में रोष ;
मारामार मची, सब सैनिक बढ़े किए आक्रोश !
अड़ी वक्ष से वक्ष, कटारें करने लगीं विहार ;
जगी "छिन्नमस्ता" गग्-गग् कर भरती रण-हुँकार !

विकट हो चली रण-दशा, भिड़े सभी प्रण ठान;
या तो पाएंगे विजय, या दे देंगे प्राण !

उधर शुक्र की असि लगी करने समर-विहार;
देख जिसे स्थिर हो रहा पवन भूल संचार !

करके हुङ्कार शुक्र गही तलवार मानो,
तड़ित घनों को निज तीव्रता दिखाने लगी ;
नव यौवना की तीक्ष्ण दृष्टि को लजाती, भेद
सैकड़ों चितों को, चित्त भूपर गिराने लगी !
स्वार्थियों की मित्रता-सी, माया की विचित्रता-सी,
मुसकाती, जो मिला उसे ही मार खाने लगी;
वारांगना जैसी पान खाए जिसके हृदय
लगी उस ही को लाल लाज से बनाने लगी !

देख सुर-सैन्य भी बढ़े प्रमत्त युत्थ-सम,
गर्जना से भूमि रह-रह थहराने लगी;
दस्युओं की आगे बढ़ी हुई हाथियों की सैन्य
नव्य द्वीप पंक्तियों की मलिका बनाने लगी !

गजों की चिंघार, ललकार रण-बाँकुरों की,
ऊँटों की अलल ध्वनि अम्बर हिलाने लगी;
देख मृत गजों की अगण्य पंक्तियों को भय-
भीत पारवती गजराज को छिपाने लगीं।

अन्धकार फीका पड़ते ही रण की विचित्र—
दशा दोनों ही दलों की दृष्टि मध्य आने लगी;
भीषण, भयावनी विभीषिकाओं से प्रपूर्ण
युद्ध-भूमि भीरुओं का हृदय कँपाने लगी!
शत्रु-सैन्य देख सभी दिशाओं में सुर-जीत
विजय की आशा छोड़ जीवन बचाने लगी;
दांव जिस चमू का लगा वही बचाती आंख
देवों को मनाती नौ-दो-ग्यारह मनाने लगी!

ऐसे ही समय आस-पास के प्रदेश में से
जुड़े, युवावृन्द वीर वेश में सजे-सजाए;
मातृभूमि रक्षणार्थ युद्ध में बँटाने हाथ
उमंगित चित गुरुदेव के निकट आए!
गुरु जानते ही थे दशा को युद्ध-क्षेत्र की, वह
देख इस सैन्य को प्रसन्न हुए, मुसकाए;
बने वह स्वयं दलाधीश, और सैनिकों को
व्यूह-बद्ध किए शत्रु-शिविरों की ओर धाए!

इनमें थे अधिकांश युवा वे जिन्हें अभक्ष्य खिलाकर;
भ्रष्ट बनाया था दिन में असुरों ने विवश बनाकर!
या जिनके गृह भस्म हुए थे, कुल के व्यक्ति मरे थे;
इसीलिए असुरों प्रति उनमें तीखे भाव भरे थे!

अकस्मात् गुरु-सैन्य का, यह अचिन्त्य आघात;
असुर-सैन्य के लिए था, अनभ्र विद्युत-पात !

इसीलिए ऐसा धारणा-विरुद्ध धावा देख
युद्धरत धीर-वीरों का भी धैर्य छूट गया ;
शैशव-विवाहिता-सुहाग सम, दैत्य-भाग्य,
भाग्य-रवि जागने के प्रथम ही फूट गया !
टूट गई शृंखला, विशृंखल हो भागे सब,
ज्यों प्रपूर्ण ताल का विशाल बाँध टूट गया ;
सभी लगे कोसने विधाता को विक्षुब्ध हुए,
जो था कल तो प्रसन्न और आज रूठ गया !
भागे विकल भयभीत अरि, जिसको जिधर की धुन लगी;
ज्यों देख दावानल-ग्रसित वन हरिण-श्रेणी उठ भगी !
आगे असुर पीछे सुरों का दल चला ललकारता;
ज्वालामुखी से ज्यों प्रबल लावा चला फुंकारता !

अरि भाग चले निज शिविर छोड़, वर्षा-नद-जल ज्यों कूल तोड़ !
रह गए सभी संग्राम साज, आरोही, हत गज, उष्ट्र, वाजि !
सुन्दर वितान, उड़ते निशान, अस्त्रालय, शस्त्रालय, विमान !
हय यान-हीन, हयहीन यान, मणि-रत्न-कोष, सुख-उपादान !
भागे कोई धर साधु वेष, कोपीन लगा जपते महेश !
कोई ले अंकुश, चँवर, रास, बन गए महावत या खवास !
कोई लुहार, कोई चमार, कोई धोबी, कोई सुनार !
कुछ बने भृत्य, कुछ द्वारपाल; कुछ भांड, भाट, कुछ गोप-ग्वाल !
कुछ बेगारी, कुछ क्रीत-दास, कुछ वन्दी, गायक, भट्ट, व्यास !
कुछ को लाए थे पकड़ सैन्य; कुछ को करना था लेन-देन !

कुछ वन-वृक्षों पर चढ़े भाग; कुछ छिपे वनों में पन्थ त्याग !
कुछ मृत ढेरों में गए लेट; कुछ पेट बढ़ा बन गए सेठ !
कुछ निर्बल साथी को उतार; उसके वाहन पर हो सवार !
भग चले जिधर का बँधा ध्यान; थल का न दिशा का रहा ज्ञान !

कुछ चल धरे सुर-रूप धर, पकड़ो, धरो, ललकारते;
निज सैन्य को, सेनानियों को, नृपति को धिक्कारते !
जय देवगण की, इन्द्र की, गुरुदेव की उच्चारते;
मन में सुरों को श्राप देते और असमय मारते !

हिरण्यकश्यप गजारूढ़ हो भाग रहा था,
वायु-वेग से सुर-सीमा को त्याग रहा था;
पीछे-पीछे एक यान में थीं लघु रानी,
जिसको घेरे हुए चल रहे थे सेनानी !
साथ-साथ आ रही थी एक और भी पालकी ;
कर सकती थी जो नहीं, समता गज की चाल की !

इस ही में थी गर्भवती चन्द्रावति विदुषी,
विश्व विदित प्रह्लाद भक्त की मा, नृप-महिषी;
रानी ने नृप हिरण्यकश्यप को बुलवाकर,
कहा प्रेम युत, "आप प्रजा पर अमित कृपा कर ;
मुझे छोड़, सुर-सीम से सत्वर पार हो जाइए;
मेरे लिए न रंच भी द्विविधा मन में लाइए !

मैं यदि रिपु के हाथ बन्दिनी हो जाऊँगी,
तो भी निश्चय है, न कष्ट कुछ भी पाऊँगी;
अबलाओं को कभी देवगण नहीं सताते,
और बन्दियों को तो भय भी नहीं दिखाते !

अतः आप निश्चित हो निज पथ पर आगे बढ़ें;
ऐसा न हो कि भागकर भी अरि के हत्थे चढ़ें !"

इसी समय बेहाल बने कुछ सैनिक आए,
सुर सेना के आने के सम्वाद सुनाए;
निराश नृप ने शून्य-दिशा निज दृष्टि उठाई,
प्रथम बार जीवन में स्मृति ईश्वर की आई !

रानी मुसकाई, नृपति लज्जित हो निज गज चढ़े;
पूर्ण वेग से, पालकी छोड़ वहीं, आगे बढ़े !

किंतु भागकर भी न असुरपति सुरदल से बच पाया;
सुर-सेना की एक चमू ने आ ही उसे दबाया !

देख असुरपति के साथी निज प्राण बचाकर भागे;
हिरण्यकश्यप सहित जहाँ के तहाँ अस्त्र तक त्यागे !
कोई चढ़ा वृक्ष पर, कोई छिपा भाग झाड़ी में;
कोई बैठ गया गुपचुप हो किसी गर्त-खाड़ी में !

कठिन समय असुरेश का, छोड़ चले सब हाथ;
मृत्यु समय ज्यों भूमि-धन तज देते हैं साथ !

उधर रात्रि का चला हुआ वृषदन्त श्रमित-सा होकर;
इसी स्थान के निकट सो रहा था सब चिन्ता खोकर !
अभी-अभी वह रश्मि-दलों के कर-स्पर्श से जगकर;
देख रहा था नृत्य कोमलांगी किरणों का भू पर !

खेल रहे थे कहीं मृगादिक, पक्षी कहीं अनेक;
पी-पी करके गुँजा रहा था शून्य पपीहा एक !

देख सामने हिरण्यकश्यप को अतिशय सकुचाता;
खड़ा हुआ वृषदन्त कुछ चकित होता कुछ घबराता ;

फिर पूछा, क्यों, आप अकेले यहाँ किस तरह आए ?
असुरराज ने भी बिन बोले सुर-सैनिक दिखलाए !

देख लगी वृषदन्त को न कुछ देर समझने में सब;
उसने कहा, "आप इस झाड़ी में चुप हो बैठें अब !

मैं जाता हूँ, शत्रु से करने दो-दो बात;
आशा है हूँगा सफल, बिना घात-प्रतिघात !
पर प्रयत्न असफल रहा, तो फिर होगा द्वन्द्व;
तब तक लेना आप कर कुछ रक्षार्थ प्रबन्ध !"
कह उसने धारण किया अपना सैनिक वेष;
देख, असुरपति-हृदय भी, आया कुछ आवेश !

बोले, "रण हो तो न कूदना एकाकी रण-सर में;
तैरेंगे दोनों मिलकर ही आज समर में !
या तो दोनों बच निकलेंगे, या होंगे कट ढेर;
उफ़ ! कहते हैं जन इस ही को भाग्य-चक्र का फेर !

यही प्रात था कल एवं अब भी है वही प्रभात ;
किन्तु बना है यह असुरों के लिए अमा की रात !

जिन्हें पिलाई सुधा, भग गए वे पशु तज झरने को;
और डुबाया जिसे—वह तुम्हीं हो प्रस्तुत मरने को !
सच है, कटुभाषी ही देते हैं कटु थल में काम;
मधुमक्खी ही करती है तरु-शुष्क अर्थ संग्राम !"

सकुचित हो वृषदन्त ने कहा, "सब प्रभु से पाया है;
सारी आयु आपकी सेवा कर खेला-खाया है !
यदि इस क्षण न काम आया तो फिर किस दिन आऊँगा ?"
फिर बोला, "रण में तो मैं एकाकी ही जाऊँगा !

मेरे रहते पहुँच गई यदि स्वामी को कुछ हानि;
तो हो जाएगा मेरा जीवन व्यर्थ समान !

अतः आप तो रण छिड़ते ही आगे पैर बढ़ाएँ;
कोई रक्षा स्थान देखकर अपने प्राण बचाएँ !
मेरे लिए न चिन्ता कीजे, सजा सत्य के बल से,
मैं निश्चय रोकूँगा तब तक अरि को रण-कौशल से !"

कह, लेकर शर-चाप बढ़ा वह सुर-सेना की ओर;
चला आ रहा था सुर-दल भी करता गर्जन घोर !

देख-सोच वृषदन्त मार्ग में चढ़कर ऊँचे स्थल पर;
राह देखने लगा शत्रु आने की निम्न अतल पर !

किन्तु सुरों ने देख लिया उसको, एवं शंकित हो;
भेजा एक सैन्यनायक को, जो सब भेद विदित हो !

नायक ने जा निकट, देख, पूछा दलपति का नाम;
पर बोला वृषदन्त, तुम्हें इन बातों से क्या काम ?

नायक बोला, अभी इधर को आया है असुरेश;
फिर है सुरगण को कुछ शंका देख तुम्हारा वेष !

पर बोला वृषदन्त, किंतु इससे क्या ? क्या डरते हो ?
तुम सुर होकर भगे शत्रु का पीछा क्यों करते हो ?

सत्यनिष्ठ सुरदूत पड़ गया यह सुन असमंजस में;
सोचा, सच तो है, हम हैं सचमुच विकार के वश में !

इसी समय सुर-दलपति भी सँग लिए कई सेनानी;
आ बोला, "क्यों पथ रोका है तुमने सैनिक-मानी ?

मेरे रहते पहुँच गई यदि स्वामी को कुछ हानि;
तो हो जाएगा मेरा जीवन व्यर्थ समान !

अतः आप तो रण छिड़ते ही आगे पैर बढ़ाएँ;
कोई रक्षा स्थान देखकर अपने प्राण बचाएँ !
मेरे लिए न चिन्ता कीजे, सजा सत्य के बल से,
मैं निश्चय रोकूँगा तब तक अरि को रण-कौशल से !"

कह, लेकर शर-चाप बढ़ा वह सुर-सेना की ओर;
चला आ रहा था सुर-दल भी करता गर्जन घोर !

देख-सोच वृषदन्त मार्ग में चढ़कर ऊँचे स्थल पर;
राह देखने लगा शत्रु आने की निम्न अतल पर !

किन्तु सुरों ने देख लिया उसको, एवं शंकित हो;
भेजा एक सैन्यनायक को, जो सब भेद विदित हो !

नायक ने जा निकट, देख, पूछा दलपति का नाम;
पर बोला वृषदन्त, तुम्हें इन बातों से क्या काम ?

नायक बोला, अभी इधर को आया है असुरेश;
फिर है सुरगण को कुछ शंका देख तुम्हारा वेष !

पर बोला वृषदन्त, किंतु इससे क्या ? क्या डरते हो ?
तुम सुर होकर भगे शत्रु का पीछा क्यों करते हो ?

सत्यनिष्ठ सुरदूत पड़ गया यह सुन असमंजस में;
सोचा, सच तो है, हम हैं सचमुच विकार के वश में !

इसी समय सुर-दलपति भी सँग लिए कई सेनानी;
आ बोला, "क्यों पथ रोका है तुमने सैनिक-मानी ?

क्या है तुमको भीति लगी निज प्राणों के जाने की;
अथवा अरि हो, बाट देखते थे सुर-दल आने की ?

यदि हो पथिक, चले जाओ मैं सैन्य साथ देता हूँ;
सब दायित्व स्वर्ग-सीमा में रक्षण का लेता हूँ !
यदि हो शत्रु, तो प्रगट होकर निज शस्त्रास्त्र सम्हालो;
रण करने के अपने मन के सब अरमान निकालो !

किन्तु अकेले हो, न अतः हो जब तक समुचित कारण ;
तब तक सुर न करेंगे शस्त्र विरुद्ध तुम्हारे धारण !"

सुन स्वभावतः वह विनम्र हो सुर-दलपति से बोला ;
"भेद आपके सहचर पर मैंने न है अभी खोला !
किन्तु जब मुझे देख अकेला अथवा गिन निरुपाय ;
आप समझते हैं मुझपर प्रहार करना अन्याय ;
तब फिर भगे शत्रु के पीछे है क्यों यह धर-मार ?
सुर हो, क्यों है किया आपने असुर-मार्ग स्वीकार ?

वीरश्रेष्ठ ! मैं हूँ वास्तव में असुरराज का अनुचर ;
एवं बैठा हूँ इस थल पर आज यही निश्चय कर ;
कि जो न सुरगण न्याय-युक्त मेरी अनुनय को मानें ;
एवं असुरराज का पीछा ही करने की ठानें ;
तो फिर डटकर यहीं प्राणप्रण से संग्राम मचाऊँ ;
हूँ मैं असुर, तथापि सुरों को आज स्वधर्म सिखाऊँ !

अतः आप या तो अपनी सेना को ले फिर जाएँ ;
अथवा वापस जा उसको युद्धार्थ सुसज्ज बनाएँ !
जाने दूँगा मैं न आपको अब तिल भर भी आगे ;
हटूँगा न दम में दम रहते चाहे भूतल भागे !

यदि रण ही करना हो तो फिर जाओ, करो तयारी ;
एक-एक कर युद्ध करो, या मिलकर सेना सारी !
तुम ससैन्य, मैं एक हूँ, तुम विजयी, मैं भीत ;
फिर भी देखें, चण्डिका देवे किसको जीत ?
हाँ, बजने दो दुंदुभी, छिड़ने दो रणगीत ;
सत्य बली है या कि बल, कर लें आज प्रतीति !

फिर बोला, "यह भी न करें भय, कि तम आदि छाएगा;
सुर गण को वृषदन्त आसुरी-रण कर दहलाएगा !
बीत गया वह समय, मान जब छल मुझसे पाता था ;
जब मुझको अज्ञों प्रति कौशल में आनंद आता था !
अब मैं तुम जिस रण से परिचित हो, वह युद्ध करूँगा;
ज्ञात हुए पर इस जीवन में छल-विष फिर न भरूँगा !"

सुन सुर-दलपति चकित हो, बोला, "क्या वृषदन्त ?
किया देवऋषि पुरी में, था जिसने रण अन्त ?
जिसे असुरपति ने दिया था प्राणान्तक दण्ड ?
सुरथ-युक्ति ही रख सकी जिसकी देह अखण्ड ?"

वृषदन्त भी चकित हुआ, यह देख कि सारी बात ;
है सुर-सेना एवं दलपति को अक्षरशः ज्ञात !
तथा सलज्ज कहा, हाँ हूँ मैं वही तुच्छ वृषदन्त ;
और मुझे है गर्व उस अनय का करने पर अन्त !

सुर-दलपति ने कहा, और फिर भी असुराधिप-अर्थ ;
आए हो तुम रण में खोने अपना जीवन व्यर्थ ?
वृषदन्त ने कहा, "धर्म था तब निज व्रत पर अड़ना ;
और धर्म है इस क्षण नृप-रक्षार्थ अटल हो लड़ना !

सभी, वीरवर ! जग में निज-निज कृति का फल पाते हैं;
अतः मूर्ख हैं वे जन जो पर की कृति पर जाते हैं !"

दलपति बोला, पापी का रक्षण भी है अघ-रक्षण ;
वृषभदन्त ने कहा, "ठीक हैं यद्यपि ये भी लक्षण ;
किन्तु प्रथम तो है वह इस क्षण विरत सभी बातों से ;
फिर है कुछ सम्बन्ध न मम रक्षा का नवघातों से !

नृप ने है सहाय माँगी, है मैंने की स्वीकार ;
निश्चय है यह भी कि कार्य मेरा है नय-अनुसार !
फिर अघ में भागी होना या प्रोत्साहन अविहित है ;
दोषी की रक्षा संस्कृति तो प्रायः सदा उचित है !
अतः चाहता नहीं देखना मैं नृप के गत-कर्म !
मुझे देखना है यह, क्या है इस क्षण मेरा धर्म ?"

सुन सुर-दलपति मुदित हो बोला, "दलपति वर्य !
असुरों में यह धर्म-धृति, है सचमुच आश्चर्य !
फिर तुम तो असुरेश के, सेनाध्यक्ष प्रवीण ;
तो भी हो जल कमलगत, असुर-भाव से हीन !"

फिर आगे बढ़ वृषभदन्त को सप्रेम हृदय लगाया ;
बोला, "धन्य वंश है जिसने है तुम सम सुत पाया !
वीर ! तुम्हारे लिये देवगण सब कुछ खो सकते हैं ;
सत्यनिष्ठ की सेवा में हम बलि तक हो सकते हैं !
कितना शुभ होता, यदि ऐसा ही होता असुरेश ;
तब न शत्रु हो, आज मित्र होते ये दोनों देश !
अस्तु वीरवर ! अब हम इस थल से ही फिर जाएंगे ;
चिन्ता तजो, न सुरगण अब पीछा करने आएंगे ।

निश्चय मित्र ! अनय है भगते अरि पर शस्त्र-प्रहार ;
किन्तु असुर-प्रति था सुरगण-हृदयों में क्रोध अपार !
और नहीं कह सकता, यदि तुम मार्ग में न आ जाते ;
तो असुराधिप आज कौन-सी दुर्गति सुर कर पाते ?

अथवा होता जगह तुम्हारी कोई अन्य प्रवीर ;
तो फिर वह चाहे होता कितना ही दृढ़ रणधीर ;
कभी न आज सुरों के कर से वह जीवित बच पाता ;
न ही असुरपति किसी भाँति मम कर से बचने पाता !"

सुन गद्‌गद वृषदन्त ने माना अति आभार ;
कहा, रहेगा आयु भर, जीवित यह उपकार !
मित्र नहीं है असुर सब, मनुष्यत्व से हीन;
उनमें भी हैं वंश की संस्कृति, यद्यपि क्षीण !

इस विधि निज नृप को बचा, कर सब वांछित काम ;
विदा हुआ वृषदन्त, कर सबको प्रेम-प्रणाम !

●

पंचम सर्ग

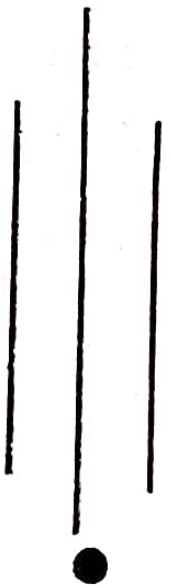

सुर सीमा से सैन्य सह निकल गया असुरेश;
सुन सुरेश ने भी दिया सुरगण को आदेश !

"सब सैनिक रण-विरत हो, लौटें निज-निज धाम;
या जयन्त सर-कूल पर चल कर लें विश्राम !
चल कर लें विश्राम, प्रमुख सेनापति जाएं ;
सीमा पर सब ओर सुदृढ़ चौकियाँ बिठाएं !
कुछ सुयोग्य चर शत्रु-सैन्य के पीछे जाएं;
और शत्रु की सब गति-विधि का पता लगाएं !"

तत्काल रणसिंगा समर से लौटने का फुंक गया;
कर सुरों का सुन जिसे, जिस थल था वहीं पर रुक गया !
कुछ देर में ही प्राय सब दल-प्रमुख दल में आ मिले;
उतरा नशा, अब श्रान्ति का करते सभी अनुभव चले !

आने पर सब दलों के, बजा कूच का शंख;
जिसे श्रवण कर विहग, मृग, हिर हो चले सशङ्क !

पंक्ति-बद्ध हो जयघोषों से शून्य गुंजाते;
बढ़े सैन्य गण, विजय-मत्त, गाते, इठलाते !
अकस्मात् पथ में ही स्थित सुरराज मिल गए;
देख मोद से सुरगण के मुख-कमल खिल गए !

सम्मुख आ, नत-शिर सभी, मंत्र-मुग्ध-से रुक गए;
मानो श्रद्धा-भार से लाखों सुर-शिर झुक गए !

सुरपति ने भी स्मित-मुख की सबकी सराहना;
"धन्य सुरो ! कहते हैं इसको व्रत निबाहना !
तुमने निज स्वातंत्र्य प्रेम सबको दिखा दिया;
वीर धर्म का पाठ शत्रुगण को सिखा दिया !

अब जयन्त सर-तट चलो, आज वहीं विश्रान्ति लें;
प्रात चलेंगे पुरी को, हो विमुक्त श्रम-क्लान्ति से !"

फिर करते जयघोष सैन्य ने पैर बढ़ाया;
मानो चढ़ते हुए ज्वार ने पलटा खाया !
सैनिक-गण में युवक-सुलभ उल्लास जग उठा;
रौद्र-वेश करुणा-शृँगार के प्रेम पग उठा !

सब निज-निज कृति की कथा, आपस में कहने लगे;
फिर सबके मन में प्रकृत प्रेम-स्रोत बहने लगे !

मन में उनके विजयी का अभिमान भरा था;
स्वतंत्रता का सर्वाधिक सम्मान भरा था !
सुर-पुर चलने पर स्वागत के, सुख-गौरव के;
परिजन से मिलने के नवसुख के, उद्भव के;

चित्र कल्पना अलग ही रँग-रँगकर रख रही थी;
भविष्य का प्रत्येक के जुदा ग्रन्थ लिख रही थी !

किन्तु सौख्य के इन सुमनों में कण्टक भी थे;
गौरव-गिरि पर अहि-वृश्चिक-सम दंशक भी थे !
विजय न थी यह शुद्ध, रक्त में सनी हुई थी;
कीर्ति-कुटी यह नर-हत्या पर बनी हुई थी !

इसीलिए वे रिपु-दशा पर भी दुख करने लगे;
हतों, आहतों की कथा पर निश्वास भरने लगे !

कितने ही निज हत मित्रों को लगे गिनाने;
और लगे कितने ही इसपर अश्रु बहाने !
लगे दूसरे, आगे बढ़कर धैर्य बँधाने;
जीवन की अनित्यता के सिद्धान्त सुनाने !

कितने ही निज जनों के अन्त देख सब क्लेश का;
धन्यवाद करने लगे करुणाकर विश्वेश का !

इसी भाँति सब कल्पना-वन में चुनते फूल;
आ पहुँचे अरि शिविर में, जयन्त-सर के कूल !
शत्रु-शिविर में ही लगा, सुर दल-शिविर अनूप;
अष्ट-प्रहर पश्चात् भू पर उतरे सुर-भूप !

किन्तु था उनको मिलना कहाँ इस समय भी समुचित विश्राम ?
धर्म के ज्ञाता को किस घड़ी नहीं रहता जग में कुछ काम ?

एक कुल का भी बनना प्रमुख, बना देता है जीवन-भार ;
अनेकों के सुख-दुख का ध्यान, अनेकों के विभिन्न व्यवहार;
और आवश्यकता को जान, पूर्ति करना सबकी सज्ञान;
व्यक्तिगत सुख-साधन, अधिकार, धर्म पर कर देना बलिदान;
आदि बन जाते हैं कर्त्तव्य, कार्य बढ़ते हैं नितप्रति नव्य;
एक भी भूल न इस कर्त्तव्य में गिनी जाती है क्षन्तव्य !

तब करोड़ों के कुल के प्रमुख व्यक्ति का है जिसने पद लिया;
करोड़ों ने ही जिसे नियुक्त पिता की गद्दी पर है किया ;
कहाँ, हो सकता है किस समय, चिन्तनाओं का उसकी अन्त ?
निबट सकते हैं उसके कहाँ गंगधारावत धर्म अनन्त ?
अतः सेना को उपवन-मध्य भेजकर, करने को आराम;
और गुरुवर को पहुँचा शिविर, प्रेम से करके उन्हें प्रणाम;
खोल शस्त्रास्त्र, कवच, शिरत्राण, बैठ पार्षदों सहित निज यान;
देखने को आहत आवास, तुरत सुरपति ने किया प्रयान !

जयन्त था कल से अधिक आज सुखी, स्वच्छन्द;
देख हुआ सुरनाथ को तोष तथा आनन्द !

फिर क्रमशः सब आहतों से करके साक्षात;
धैर्य बँधाया उन्हें भी, कर सनेह-युत बात !

देख यह हुआ उन्हें सन्तोष, चिकित्सा का था उचित प्रबन्ध;
नहीं था निज-पर का कुछ भेद, द्वेष की थी न कहीं भी गन्ध !
देव-बालाओं का आलाप, बंधाना आहत-गण को धैर्य;
अनेकों कह इतिहासिक कथा, विचल हृदयों में लाना स्थैर्य !

मातृ-भगिनी का-सा शुचि प्रेम, कार्य-चिन्ता, तत्परता, शान्ति;
व्यथित से व्यथित हृदय की तुरत मिटा देती थी आधी क्लान्ति !
तदपि कितनों ही की क्षत-विक्षत-देह, पीड़ा से हाहाकार;
रुदन, क्रन्दन, सुन, देख सुरेश-हृदय हो उठा शोक आगार !

अवस्था थी भी ऐसी ही दुःखद दुर्दृश्यों से परिपूर्ण;
कि जिसको देख वज्रवत कठिन हृदय भी हो सकते थे चूर्ण !

कुछ रोते थे व्रण-पीड़ा से, कुछ मरने से घबराते थे;
कुछ निज कुटुम्बियों को सुमिरण कर-कर शोकाश्रु बहाते थे !
विश्वास नहीं करता था फिर निज गृह जा सकने का, कोई;
पोषक-विहीन परिवारों को जीवित पा सकने का, कोई !
कोई निज रुग्णा माता की स्मृति से विह्वल हो जाता था;
कोई निज करुण कथा से चित श्रोताओं का दहलाता था !

कुछ दरिद्र थे, भूखों मरते, पत्नी से चरचा किए बिना;
निज जीवन-यापनार्थ उसको, कुछ साधन-समिधा दिए बिना ;
कुछ फँसकर व्यर्थ प्रलोभन में, छिपकर निज विधवा माता से;
थे भग आए, अब करते थे, रो-रो फ़रियाद विधाता से !
सबका था जीवन, एक करुण दुख-घटनावलियों की माला;
सबको था मरना पड़ा, बुझाने को केवल तन की ज्वाला !

सैनिकता प्रिय थी उन्हें नहीं, वीरत्व धर्म का ज्ञान न था;
निज राष्ट्र-प्रेम का, राजा का, कुछ भी मन में सम्मान न था !
वे पशु थे, केवल निज पोषण, रक्षण की चिन्ता करते थे;
पड़ तुच्छ स्वार्थ के फन्दों में यन्त्रों की भाँति विचरते थे !

है कर्म पाप या पुण्य भरा, इसकी परवाह न करते थे;
धनदाता के संकेतों पर शुनि-सम लड़ते थे, मरते थे !

सुरराज-हृदय, सुन सब बातें, करुणा, भय से भर काँप गया;
उनकी जय की प्रसन्नता को, मानो डस तक्षक-साँप गया !
वह लगे सोचने, "हाय ! स्वार्थ है कितना घोर अनाचारी;
किस भाँति स्वार्थ के दासों की जाती है कृति, गति, मति मारी !
जिनको जग के जगदीश्वर ने सविवेक, सज्ञान बनाया है;
उनको भी इन अलबेलों ने पशुता का पाठ पढ़ाया है !

और मूर्ख ये सैनिक भी क्यों अन्धे हो मरते हैं ?
क्यों औरों के कहने से ये रौरव में गिरते हैं ?
अन्त समय निज कृति का फल तो ये खुद ही पाएँगे;
स्वामी कहलानेवाले तब कब आड़े आएँगे ?

युद्ध नहीं कुछ धर्म-कार्य है, हिंसा नहीं प्रगति है;
स्वातंत्र्याश्रित सुरक्षार्थ ही बस उसकी अनुमति है !
वह भी तब जब और किसी विधि रक्षा रहे न सम्भव;
युद्ध बिना निश्चित हो जब होना स्वातंत्र्य-पराभव !

अतः भाग लेना उसमें सैनिक को तभी उचित है;
जब वह समझ ले बिना समर के सर्वनाश निश्चित है !
या जब हो विश्वास उसे निज स्वामी का यह निश्चित;
कि वह कदापि न लेगा कोई कार्य किसीसे अनुचित !

अन्यथा, उदर भरने को; या धन-संग्रह करने को;
श्वान-सदृश चल देना जन-वध करने, खुद मरने को !
युद्ध नहीं, बटमारपना है, जघन्यतम पातक है;
स्वामी सेवक दोनों की ही आत्मा का घातक है !

वास्तव में जिस शासन का है ध्येय राज्य-विस्तार;
अथवा भय द्वारा मनवाना सबसे निज अधिकार !
राज्य नहीं, वह है बटमारों का सुगठित समुदाय;
उसके साथ योग देना है गर्हिततम अन्याय !

फिर इन युद्धों के होने के लिए कौन है दायी ?
क्यों हों युद्ध, मिलें यदि दुष्टों को न विमूढ़ सिपाही ?
इस विधि ये सैनिक केवल हिंसा ही नहीं कमाते;
हैं स्वतन्त्र, निर्दोष जनों को परवश-दास बनाते !

फलतः वे जन परवश होकर जितने दुख पाते हैं;
उन सबके भी पाप इन्हीं के सिर लादे जाते हैं !

क्या बिगड़ा हिरण्यकश्यप का, क्या सेनापतियों का ?
क्या बिगड़ा सुख के ठेकेदारों-कमलापतियों का ?
गए सुरक्षित वे निज गृह को, मरे दरिद्र बिचारे;
इधर मरे ये, उधर मरेंगे भूखे आश्रित सारे !
हा, कितने वंशों का रवि ही अस्त हो गया होगा;
एकमात्र कितने हृदयों का रत्न खो गया होगा !

इस भाँति चिन्तना - सरिता में गोते खाते, उतराते;
अपने इन भावों के द्वन्द्वों को मन ही मध्य दबाते !
औरों को करते शान्त, भरोसा देते, धैर्य बँधाते;
स्वयं अधीर बने सुरपति, उठ चले नयन ले राते !

गए वहाँ से देखने, समर-भूमि का हाल;
किंतु दृश्य था वहाँ का और अधिक विकराल !

पाप-दवे पुण्य-सा था लाल-लाल रक्त-मांस;
श्याम रंग लिए सूख भूमि से लगा हुआ;
जाती थी जहाँ लों दृष्टि, वहीं लों था मानो प्रति
पल्लव, पाषाण, तृण पाप में पगा हुआ!
फैला हुआ भूमि पर, वृष्टि का विमल जल
भी था मानो उसी एक रंग में रँगा हुआ;
चारों ओर रक्त-प्रिय पक्षि, पशु बोलते थे,
मानो मंत्र-शास्त्र का मसान हो जगा हुआ!

लाशों की कतारें कटे क्षेत्रवत कोसों तक
भिन्न-भिन्न भावों का बगीचा-सा लगाए थीं;
कर-करवाल थी किसीके तो किसीके गदा,
कोई धनु-बाण इस आन भी चढ़ाए थीं!
कोई हँस रही थी तो दाँत पीसती थी कोई,
कोई प्रतिपक्षी को स्वकक्ष में दबाए थीं;
कोई असि खींच ही रही थीं कोष में से, कोई
परिघ उठाए पैर आगे को बढ़ाए थीं!

कितने ही करों से, स्ववसनों के नीचे, लूट
के छिपाए रत्न आदि को ही थे सम्हाल रहे;
कितने ही ओठों से लगाए हाथ, शुष्क मुख
पड़े थे, ज्यों हो तृषार्त हों वे बुरे हाल रहे!
कितनों की आँखों में भरे थे अश्रु आज भी, थे
कितने सभीत ढाल से बचा स्वभाल रहे;
कितने ही थे कराहते-कराहते ही मानो,
घावों में से बैठे शर शत्रु के निकाल रहे!

कङ्कण विवाह के बँधे थे कितनों के कर,
कोई निज प्रेमिका का चित्र लिए आए थे;
कई निज-निज इष्टदेव-मूर्ति, ग्रन्थ, आदि
वसनों के नीचे बड़े यत्न से छिपाए थे !
कोई निज दृष्टि और बाहु दोनों शून्य-दिशा
एकटक प्रार्थना के भाव से उठाए थे;
कोई चेत-हीन पड़े आज भी कराहते थे,
कोई आँख-मींचे, ज्यों समाधि ही लगाए थे !

कितने ही उष्ट्र, गज, अश्व हो-हो अंगहीन,
रक्तप्रिय जन्तुओं से भीत, भगे फिरते;
कितने थे भागने में असमर्थ उठ-उठ,
काँप-काँप, करुण पुकार कर गिरते !
कितनों का आधा तन खा चुके गृद्ध आदि,
तो भी थे वे प्राण बचाने के अर्थ मरते;
काँप उठते थे भूमि पर पड़े कृपाण तक
जब वे विकल कण्ठ से पुकार करते !

गीदड़, गरुड़, गृद्ध, गण्डक, बिडाल आदि,
सभी थे शवों को निज-निज ओर खींचते;
चोंचों में पकड़ अर्द्धमृत आहतों की आँखें
खोज-खोज खींचते वे, भींचते औ' ढींचते !
शवों में छिपे हुओं के भी न बचते थे प्राण,
हिंस्र जन्तु थे उन्हें भी खींचने को झीकते ;
पंजों से खरोंच फिर, नोंच-नोंच, कोंच-कोंच,
कटे-फटे अंग कर पृथक घसीटते !

देख यह दशा, सुरपति अतिशय विकल हो उठे;
उनके दयार्द्र प्राण प्रेम-प्लुत हुए रो उठे !
कहने लगे कि, "क्यों जग अन्धा हो जाता है ?
क्यों दुनिया में एक-दूसरे को खाता है ?
भूमि और साम्राज्य हैं, अब तक भी किसके हुए ?
कौन इन्हें जाते समय हैं अपने सँग ले गए ?

अहो ! आज कितनी माताएँ रोती होंगी ;
कितनी नव वधुएँ निज आँखें खोती होंगी !
अंग-हीन बनकर कितने दुख पाते होंगे ;
कितने कोमल कुसुम सूख मुरझाते होंगे !
कितने वंशों में नहीं, कोई भी रह जायगा;
कितनों का इस प्रलय में तन-धन सब बह जायगा !

पशु तक संग्रह व्यर्थ नहीं करके रखते हैं;
कृमि, पक्षी, जलचर तक मिल-जुलकर रहते हैं !
कोई अपने लिए और को नहीं खपाता;
जला दूसरों का घर अपना नहीं बचाता !
किंतु ज्ञान में श्रेष्ठ सुर, असुर, मनुज पशु वृन्द से
भी अबोध बन, परस्पर लड़ते हैं आनन्द से !

प्रेम-कुसुम की मार को कब पहुँची तलवार ?
फिर भी हैं कब छोड़ते मूर्ख युद्ध-व्यापार ?

फिर है स्वार्थ हमारा होता, पशु मारे जाते हैं;
लड़ते हैं गज, तृण बेचारे व्यर्थ मार खाते हैं !
ये देखो, शतशः निर्दोषी अंगहीन फिरते हैं;
उठते हैं, भगते हैं, फिर चक्कर खा-खा गिरते हैं !

किंतु आज है इनके दुख पर कौन दया दिखलाता ?
इनकी आहों पर है दो आँसू भी कौन गिराता ?

सैनिकों की हम करके खोज, कराते हैं उनका उपचार;
आश्रितों को भी उनके कहीं दिया जाता है कुछ उपहार !
पर इन्हें हैं हम जाते भूल, इस तरह, ज्यों हैं ये पाषाण;
नहीं होता इनको कुछ कष्ट, नहीं हों इनके तन में प्राण !
करेगा इस अनीति को भला, क्षमा कब वह जग का कर्त्तार ?
दृष्टि में हैं सब जिसकी एक, सुर-असुर, पशु-कृमि, विज्ञ-गँवार !

स्वर्ग में खेलें शोणित फाग, प्राणि-वध कर मानें अभिमान;
और इस नर्क-यज्ञ के लिए करें उत्सव का-सा सामान !
कहें मुख से कि सृष्टि का पिता, एक ही है सबका भगवान्,
प्रकृति की कृति में प्राणी सभी, एक पितु-मा की हैं सन्तान !
अतः जलचर, थलचर हों या कि, शून्यचारी या निर्जर वृन्द—
सभी हैं भ्रातृ-भगिनि सम एक, वृहद परिवार के सुहृद-बन्धु !

किन्तु व्यवहारों में सब भूल, परस्पर मिलकर करें प्रहार;
बहाएँ हँस-हँस निज लाभार्थ, बन्धु के विमल रक्त की धार !
और इसको मानें वीरत्व, धर्म, कर्त्तव्य, देश-उपकार;
कहें इस वाम-बुद्धि को, प्रभो ! धन्य अथवा देवें धिक्कार !

किन्तु औरों को मैं क्या कहूँ ? देवगण हैं विवेक-अवतार;
और जब वे ही खेलें रक्त-फाग कर विपक्ष का संहार;
दूसरों की निन्दा का उन्हें तब कहाँ रहता है अधिकार ?
सिखा सकता औरों को शास्त्र किस तरह, जो हो स्वयं गँवार ?"

●

छठा सर्ग

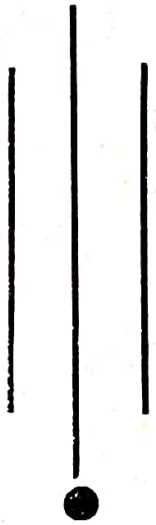

पार्षदगण सुरराज के सुन सकरुण उद्‌गार;
अनुभव करते इन्द्र के मनस्ताप का भार;

बद्धाञ्जलि बोले, "प्रभो ! शोक न कीजे व्यर्थ,
लड़ना है हमको पड़ा निज रक्षा के अर्थ !
निज रक्षा के अर्थ देव लाचार हुए हैं;
ध्यान कीजिए, कितने सुर-गृह क्षार हुए हैं !
कितने तरु कट गए पल्लवित होते-होते ;
कितने शिशु सो गए सदा को, सोते-सोते !"

बोले सुरपति, "सच है, थे अन्याय किए असुरों ने;
निर्दोषों, अबलाओं पर थे वार किए असुरों ने !

किन्तु पाप प्रति पाप, देवगण ! पुण्य नहीं हो जाता;
कोई जल की जगह अग्नि ले ज्वाला नहीं बुझाता !
और क्या कहा, निज रक्षा ? यह ही तो है वह ढाल;
जिसकी छाया में चलते हैं स्वार्थी अपनी चाल !

इसी आड़ में तो सदा लुटते हैं बलहीन;
रक्खे जाते हैं अमित लोक, बनाकर दीन !

लेकर कहीं स्वसिद्धान्तों के प्रचारादि का नाम;
कहीं बनाने को असभ्य लोकों को सद्गुण-धाम;
रखने की पड़ोसियों के गृह में भी कहीं सुशान्ति;
कहीं देखकर पर की कृति से होती जग में क्रांति !
और कहीं पर गृह में निज हित की रक्षा करने को—
ही तो होते हैं तयार जन रण करने, मरने को !
निज रक्षा को ढाल बनाकर ही तो दुष्ट सशक्त;
सदा बहाते हैं निरीह-निर्दोष जनों का रक्त !

किन्तु इन्हीं बातों से यदि बन जाय न्याय्य संग्राम;
तो फिर बुरा कहा जाएगा कौन जगत में काम ?
डाकू तक बनकर बलिष्ट, करने को अपनी रक्षा;
युद्ध करेंगे सुष्टों को देने को निज नय-दीक्षा !

इसी नीति के फल से तो असुरों में है यह हाल;
कि द्यूत, मादक-पदार्थ, व्यभिचार, ठगी का जाल;
मिथ्या-व्यापारादि सभीके कर्ता अपना रक्षण
स्वत्व समझकर, करते हैं निर्भय अनीति का पोषण !

अतः सत्य रक्षार्थ ही है हित-कृति भी धर्म;
है निज रक्षा अर्थ तो भोजन तक अपकर्म !

फिर क्या डरते हैं सुरगण निज प्राणों के जाने से ?
अथवा अन्यायों के सम्मुख निष्क्रिय डट जाने से ?
या जीने-मरने में उनके लिए भेद है भारी ?
जीवन-मरण, नहीं हैं दोनों एक क्षेत्र की क्यारी ?
नहीं ? तब कहाँ आवश्यकता है इन तलवारों की ?
सिद्ध न्याय्यता होती है कब इन निर्दय वारों की ?

और सुरों का असहयोग है आज कौन सह सकता ?
बिना हमारे कौन कहो, क्षण भर भी है रह सकता ?
किसकी कृति, गति, मति का चरखा तुरत नहीं रुक सकता ?
कौन बली है, जो सुर-बल को देख नहीं झुक सकता ?
आज हमारी सहायता ही से तो सब चलता है !
पत्ता भी कब पवन देव के योग बिना हिलता है ?"

पार्षद बोले, "देव ! वस्तु हैं जो जीवन की आश्रय,
उन्हें छीन या विनष्ट करके करना शत्रु-पराजय
भी तो अघ है, फिर यह करना कैसे सम्भव होता ?
फिर भी हिंसा बिना किस तरह शत्रु-पराभव होता ?"

सुरपति बोले, "हाँ, है जीवन-साधन हरना पाप;
पर इससे मिलता है सुर-समाज के बल का माप !
एवं जो समाज हो जितना शक्ति-ज्ञान का आकर;
उतना ही होना वाञ्छित उसका विवेक का सागर !

फिर जीवन साधन तजकर भी यह तो था ही साध्य
कि हम शत्रु की नाशक गति कर देते जड़वत् बाध्य !

प्रश्न यह नहीं है कि लड़े हैं हम निज रक्षा-अर्थ;
प्रश्न है, कि थे अन्य यत्न क्या सभी हो चुके व्यर्थ !
निःसन्देह स्वधर्म और स्वातंत्र्य न जाने देना,
सभी शक्तियों का इनकी रक्षार्थ सहारा लेना;
है प्राणी का धर्म, किंतु इसका यह अर्थ नहीं है,
कि उपयोग पाशविक बल का समुचित सभी कहीं है !

धर्म-अर्थ भी पशुबल का उपयोग वहीं समुचित है;
और किसी भी भाँति सत्य-रक्षा जब असम्भवित है !

या जो व्यक्ति अनय से अरि की क्षुब्ध, नहीं भय त्यागे;
नहीं सत्य पर दृढ़ रह सकता तलवारों के आगे !
या है नीति-हीन अरि जिसका एवं जिसके आश्रित ।।
हैं निर्बल, शरणागत, रोगी तथा नयार्जित सम्पति !
या जिस बल-प्रयोग से हो प्रतिपक्षी का उपकार,
उसके लिए निहित है सुरगण ! पशुबल का व्यवहार !

नहीं वीरता है, विबुधो ! वैरी का वध करने में;
है वीरत्व सत्य पर निर्भय डटे हुए मरने में !
सच्चा विजयी है न वह, जयी होकर जो आता है;
प्रत्युत वह, जो बिना झुके निज प्रण पर मिट जाता है !
स्वरक्षार्थ तो प्रतिपक्षी पर वही करेगा वार;
जिसे मृत्यु से भय है या है तन से मोह अपार !

औ' हिंसा एवं भय का है जन्य-जनक सम्बन्ध;
निर्भयता में आ ही सकती नहीं क्रोध की गन्ध !
है बलिदान वही जिसमें हो न विद्वेष का लेश;
जिसमें हो केवल विवेकयुत दृढ़ता का आवेश !

जग-कुटुम्ब है तब कुटुम्बियों पर क्यों शस्त्र-प्रहार ?
उन्हें मारने से तो मरना ही है श्रेष्ठ उदार !

जब देवर्षिपुरी बिन अरि-वध किए रख सकी मान;
तब क्यों रख सकते न सुर उसी रण से अपनी आन ?
क्रोध जहाँ है वहाँ रहेगा निश्चय ही अज्ञान;
जिसमें किया त्याग हो सकता नहीं कभी बलिदान !

बुद्धियुक्त प्राणी हैं सुरगण ! जितने इस भूतल पर;
सार्थक्य ही उनके जीवन का है इसपर निर्भर !
करते हैं पशु जिन कामों का सम्पादन पशुबल से;
असुर सिद्ध करते हैं जो कुछ अनय, दुष्टता, छल से;
वही बुद्धि से और सत्य-बल से, नय-जयार्थ करना;
विकृति ज्वार में भी विवेक-दर्शित पथ पर ही चलना;
शासकगण में यही बुद्धि है राजनीति कहलाती;
यही नाम है जनपद में आध्यात्मिकबल का पाती !

दि हो विकृति-विवश, पशु-बल से लेना कार्य विहित हो;
तो क्यों रचना ही नर-सुर-असुरों की बुद्धि सहित हो ?

और किया है क्या हमने असुरों की ही संस्कृति को ?
प्रयत्न से क्या वे न समझ सकते थे इस दुर्मति को ?
हम भी तो बस उनको अरि गिनकर बैठे रहते हैं;
कब उनके प्रति बन्धु-भाव सुर-हृदयों में बहते हैं ?
कब उनसे प्रेरित हो सुरगण करते हैं यह यत्न;
कि दें सभी हृदयों को जग के वे निज नीति-सुरत्न ?

ये कुछ न कर, स्वयम् भूले हैं वे धन, सुख, शासन में;
इस रण में भी न थी द्वेष-ज्वाला किस-किसके मन में !
इस विधि क्या दायित्व नहीं है हमपर भी इस रण का ?
क्या हैं मात्र असुर दल ही उत्पादक इस कारण का ?"
कहते-कहते, कुछ चिन्तित हो, फिर सुरपति उठ खोले—
"धन्य प्रभो ! मम चक्षु आपने ठीक समय पर खोले !

ठीक आज से सुरगण अपना रौद्र वेश फेंकेंगे;
सचमुच, अब सचराचर में वह बन्धु-भाव देखेंगे।
जिसे देखना ही है उनका प्रकृत-धर्म एकान्त;
'शाठ्यं प्रत्यपि सत्यं' होगा अब उनका सिद्धान्त !
उत्तेजना न अब सुरगण को क्रोधित बना सकेगी;
कोई शक्ति न अब सुरगण से यह रण ठना सकेगी !

स्वग-पुरी को छोड़ रहेंगे अब सुर सचराचर में;
स्वर्ग ही नहीं, अब सुर-शासन पहुँचेगा घर-घर में !

खण्ड-खण्ड होकर भी वे निज धर्म नहीं छोड़ेंगे;
किन्तु साथ ही तृण को भी कर द्वेष नहीं तोड़ेंगे !
अब सुर-शासन का आधार न होगी पशुबल-शक्ति;
अब सुर-शक्ति रहेगी बनकर समता, सेवा, भक्ति !
अब संतोष करेंगे सुर न स्वयम् ही बनकर विज्ञ;
होगा उनका ध्येय बनाना सबको सुनय-प्रभिज्ञ !

जब तक सारा विश्व न समझे प्रेम-धर्म का सार;
तब तक सुर यह सुखमय जीवन मानेंगे अघ-भार !
होगा उनका प्रकृत-धर्म बस सबके प्रति समदृष्टि;
नास्तिक-आस्तिक सबपर सत्य-सुधा की प्रेमिल वृष्टि !

यज्ञ धर्म है, साम्य शान्ति है, यही नित्य गाएँगे;
सब जग को वे क्षमा-धर्म की महिमा दिखलाएँगे !"

इस निश्चय से सुरपति मन ने पाई अद्भुत शान्ति;
उनके मुख पर झलक उठी इस पवित्र प्रण की कान्ति !
महक उठा हो कष्ट-शिला पर घर्षित मानो चन्दन;
अथवा तप परिताप-अग्नि में स्वर्ण हो गया कुन्दन !
पश्चाताप अग्नि में चिन्ता भस्म हो गई सारी;
घूम गई आँखों में भावी जीवन की सुख-क्यारी !

इसी समय सुर-शिविर से ले गुरु का आदेश;
आया एक पदाति, सुन, आगे बढ़े सुरेश !

कुछ क्षण में सुरराज क्लान्त मुख को उत्फुल्ल बनाए;
स्निग्ध हास्य की वर्षा करते गुरु-वितान में आए !
गुरु ने स्वागत कर, सादर, आसन पर उन्हें बिठाया;
और सहास कहा, "यह है कैसा वैराग्य लगाया ?
क्या सारे कर्त्तव्यों को खुद ही पूरे कर लोगे ?
सहायकों को इस सुयज्ञ में कुछ भी भाग न दोगे ?

इस ज्वाला में यह जर्जर तन लेकर कहाँ गए थे ?
इस असमय में समर-भूमि में क्या मख रचा रहे थे ?"
सुरपति ने निज मनोदशा का सारा हाल सुनाकर;
हताहतों के सुने और देखे वृत्तान्त बताकर;
कहा सविस्मय, "किसी तरह यह नहीं समझ में आया;
क्यों इस अयोग्य पथ को है सुरवृन्दों ने अपनाया ?"

सुर-गुरु यह सुन, हर्षित होकर लगे सोचने मन में—
स्यात् पुनः अब ऋतुपति आने वाले हैं सुर-वन में !
तब ही तो प्राचीन संस्कृति फिर प्रस्फुटित हुई है;
तब ही तो सुरपति-मन में यह करुणा उदित हुई है !
ठीक, प्रतीक्षा थी जिसकी मुझको, यह वही समय है;
अब इस संस्कृति-दृढ़ता पर ही निर्भर शांति-विजय है !

फिर प्रसन्न हो बोले, "सुरपति ! सच है यह अनुमान;
सुर-जीवन में था न कभी हिंसा को इतना मान !
पूर्व काल का सुर-जीवन था, वास्तव में आदर्श;
कौन पा सका है जग में उससे बढ़कर उत्कर्ष ?
वह जीवन अद्भुत था, उसमें विकृति कहाँ रहती थी ?
जीवन क्या था, भक्ति-सुरसरी भूतल पर बहती थी !

कभी विकार न उनके मन हर पाते थे अधिकार;
सुर-शिशुगण तक प्रौढ़ सिद्ध सम करते थे व्यवहार !
सुष्ट-दुष्ट सबके तब सुरगण सम श्रद्धा-भाजन थे !
सब लोकों में शान्ति-सौख्य फैलाने के साधन थे !
सुरगण के जीवन का था तब जग में इतना मान;
कि, सब समाजों में पाया उसने उच्च स्थान !

सब ने थे स्थापित किए निज-निज देव-समाज;
करने को अपने यहाँ स्थापित स्वर्ग-स्वराज !
कहीं कहते थे भूसुर इन्हें, कहीं त्यागी, योगी, ऋषिराज;
कहीं मुनि, कहीं बुद्ध, आचार्य, कहीं कहते थे विप्र-समाज !
सुरों का रख सम्मुख आदर्श, बना निज लक्ष्य विश्व-कल्याण;
सभी ये करते थे तप-त्याग-भित्ति पर निज जीवन-निर्माण !

काम था इनका दुर्बल, दलित, दीन जन का करना उपकार;
दिखाना अज्ञों को सन्मार्ग, पतित-जन का करना उद्धार !

त्याग कर सारे सुख-व्यापार, स्वार्थ, हिंसा, प्रपंच, अपकार;
विश्व में करना सत्य-प्रचार, न्याय का फैलाना अधिकार !
वर्ण, विद्या, वैभव, कुल, राष्ट्र-आदि भेदों से रहना मुक्त;
सभीपर रखना सम अनुराग, सभीको देना मति उपयुक्त !
सभीको रखना धर्मारूढ़, न बढ़ने देना कहीं अशान्ति;
भले ही उनको इसके लिए, करानी होवें शासन-क्रान्ति !';

सुरपति बोले, "किस तरह फिर यह फैला द्वन्द्व ?
क्यों जग के आदर्श खुद फँसे स्वार्थ के फन्द ?"

गुरु बोले, "है यह भी, सुरपति ! एक सुदीर्घ कहानी;
वह युग भी था, आज की तरह ही युद्धों का मानी !
उस युग में भी आज की तरह, सर्वमान्य था दम्भ;
छल, प्रपंच, पाखण्ड, स्वार्थ थे राजनीति के स्तम्भ !
मुख से थे सब धर्म, दयादिक शब्दों के गुण गाते;
किन्तु स्वार्थ के समय सभी थे इनकी याद भुलाते !

किसीको न विश्वास किसीका भी था व्यवहारों में;
जीवन से दश-गुन व्यय होता था रण, हथियारों में !
अन्त में सभी देशों का जी उससे अति उकताया;
सबने मिलकर उसे नष्ट कर देना ही ठहराया !
निश्चय हुआ सभी देशों को आमंत्रण भिजवाना;
एक जगह सब राष्ट्र-समूहों के प्रतिनिधि बुलवाना !

सुरपुर में ही जुड़ा अन्त में समारोह यह भारी;
तपोभूमि क्या उस दिन थी यह शिर-सुमनों की क्यारी !
भिन्न-भिन्न भाषा, आकृति वाले, विभिन्न देशों के;
भिन्न-भिन्न व्यवहारों वाले, भिन्न-भिन्न वेशों के;
राज्य, प्रजा सब के प्रतिनिधि, विद्वान, वीर, व्यवसायी;
सबने मिल, थी विश्व-शान्ति की नूतन नीति बनाई !"

सुरपति ने सोत्सुक पूछा, "वह क्या था कर्म-विधान ?"
कहा गुरू ने, "सुनो तात ! उसका संक्षिप्त बखान !

निश्चय हुआ प्रथम तो हिंसा-रण को अघ ठहराना;
पाप मानना वैज्ञानिक रण, समिधा-पोत बनाना !
और स्वार्थ, वाणिज्य-यन्त्र-कौशल का नाम मिटाना;
प्रकृत-संस्कृत-जीवन को ही धर्म-वेष पहनाना !
सत्य बोलना, सत्य आचरण करना और कराना;
जाति, राष्ट्र, समुदाय आदि के अनुचित भेद मिटाना !
सेना मादक द्रव्यादिक के अनीतिमय आयोजन--
को प्रत्यक्ष परोक्ष किसी विधि देना कभी न पोषण !

किन्तु नहीं साधारण झगड़ों का मिट सकता नाम;
काम, क्रोध, मद, करते ही हैं जग में अपना काम !
नहीं जगत में सब योगी, मुनि अथवा सुर बन सकते;
क्वचित् ही सही, द्वन्द्व व्यक्तियों में भी हैं ठन सकते !
अतः हुआ निश्चित उनका भी निश्चित पथ ठहराना;
यथासाध्य उनको छल, हिंसा, भय से मुक्त बनाना !

नियम बना, यदि लड़ना, तो भी छल से काम न लेना;
नही शत्रु को भी, समर-स्थल में भी, धोखा देना !
न ही भयानक, विषाक्त शस्त्रों-अस्त्रों को अपनाना;
और न बल-कौशल में निर्बल पर शस्त्रास्त्र चलाना !

सुरगण को सबने इस नव-जग का शासक ठहराया;
और उन्हींको सब राष्ट्रों का न्यायाधीश बनाया !

वृद्ध, बाल, अबला, गुरू, रोग-शोक आक्रान्त;
अवध्य ये माने गए, आर्त, तटस्थ, विभ्रान्त !

सुरगण का तब धर्म हो गया, रखना सुगठित सेना ;
युद्धवादियों के विरुद्ध दल को सहायता देना !
युद्ध न होने देना, जग में शान्ति-प्रवाह बहाना ;
सब भुवनों में इन नियमों की विमल ध्वजा फहराना !
वैज्ञानिक अस्त्रादि भी यहीं तब रक्खे जाते थे ;
जिन्हें जरूरत होती वे लेने सुरपुर आते थे !

सुरपति बोले, "कैसी थी, गुरु ! तब की राज्य-व्यवस्था ?
कुछ बताइए, सब राष्ट्रों की तत्कालीन अवस्था !"
कहा गुरू ने, "मूल व्यवस्था तो थी सबकी एक ;
इन नियमों के पालनार्थ था बाध्य राष्ट्र प्रत्येक !

जो नियमोल्लंघन करता था, वह दण्डित होता था ;
दोषों की गुरुतानुसार निज शक्ति, स्वत्व खोता था !

शेष व्यवस्था लोकों की इच्छा पर ही निर्भर थी ;
शासन-सत्ता सब राष्ट्रों की जन-पद की अनुचर थी !

गण-तंत्रों में कुछ समूहपति मिल शासन करते थे ;
संघतंत्र सब जनता की सम्मति को अनुसरते थे !

निर्वाचन द्वारा नियत होता कहीं नरेश ;
कहीं गुणों की परीक्षा का था नियम विशेष !
जो होता उत्तीर्ण, वह पाता नृप-पद-मान ;
कहीं वंश का प्रमुख ही लेता प्रमुख स्थान !

कहीं आयु भर एक ही जन करता था राज ;
कहीं तीसरे-पाँचवें वर्ष बदलता साज !

इनमें भी थे कई भेद, कुछ रखते थे गृह-सम्पति ;
कुछ रखते थे सभी ग्राम का अर्जित धन एकत्रित !
फिर उससे होती थी सबके लिए समान व्यवस्था ;
ऐसी ही विभिन्नता-मय थी तत्कालीन अवस्था !

ग्राम-कोष में कहीं वर्ष की बचत जमा होती थी ;
कहीं मृतक की उत्तराधिकारी जनता होती थी !

इस धन से ही ग्रामों का सारा शासन चलता था ;
दुष्कालों में इस ही से सबको भोजन मिलता था !
इस ही के द्वारा थी की जाती नव सन्तति शिक्षित ;
इस ही के द्वारा रक्खा जाता था ग्राम सुरक्षित !"

पूछा सुरपति ने, "कैसे थे, गुरु ! "प्राकृत कुल तंत्र ?"
गुरु बोले, "है ठीक, तात ! जैसा अपना सुर-तंत्र !

सार यह कि दो स्तम्भ मूल थे सभी व्यवस्थाओं के ;
प्रथम, बनाने प्रकृत कार्य-जीवन-क्रम समुदायों के !
और स्वगृह की रक्षा, शिक्षा, अर्थपूर्ति, शासन में ;
योग्य भाग लेने के प्रान्तिक शासन-संचालन में !

हर गृहस्थ को शिक्षित कर के पूर्ण स्वतंत्र बनाना ;
तथा व्यक्ति पर शासन ग्राम्य समिति से ही करवाना !

कुलतंत्रों में गुरुजन या कुलपति कुल का शासक था ;
यह समूह सर्वाधिक स्वतंत्रता का आराधक था !
किसी भाँति का भी शासन स्वीकार न ये करते थे ;
हाँ, स्वतंत्रता की रक्षा में सब मिलकर मरते थे !
वैसे, वे होते थे सबसे अधिक न्याय-प्रिय, त्यागी ;
सत्यनिष्ठ, सेवाप्रिय एवं शान्ति-धर्म-अनुरागी !

कृषि करते थे पुरुष, वस्त्र महिलाएँ बुन लेती थीं ;
वृद्ध-मण्डली नवयुवकों को सच्छिक्षा देती थी !
कर-स्वरूप या भयवश कुछ वे किसीको न देते थे ;
हाँ, वैसे नित ही औरों की विपति स्वयं लेते थे !
जो कुछ स्वार्जित होता, उस ही में रहते थे तुष्ट ;
एक व्यक्ति भी उनमें मिलता था न लालची, दुष्ट !

प्रेम रंग में थीं रँगी, उनकी सब कुल-रीति ;
प्रेम धर्म था, प्रीति ही थी उनकी गृह-नीति !

कुलपति कुल-मत मानकर, करता था सब कार्य ;
गुरुता के थे चिन्ह ही, सदाचार, औदार्य !

निज व्यय से जो कुछ बचता वे दीनों को दे देते ;
किंतु स्वयं वश चलते कौड़ी भी न किसीसे लेते !
हिंसा-हत्या शब्द तलक थे उनके लिए भयावह ;
किसी क्षुद्र प्राणी का दुख भी था उनको दुःखावह !
फिर भी स्वतंत्रता-रक्षण में वे थे अचल हिमाचल ;
पढ़े हुए थे एक पाठ सब, क्या बलिष्ठ क्या निर्बल !
सुरपति ! है यह तंत्र जगत में सबसे प्रकृत, पुराना ;
औ' है अमर हुआ वह शासन जिसने इसको माना !

सुरपति बोले, "अहा ! विश्व वह कैसा सुन्दर होगा !
सचमुच ही वह परम-पिता का भौतिक मन्दिर होगा !"

गुरु बोले, "तब, सुरपुर से भी मर्त्य कहीं बढ़ कर था ;
सुर गण से भी, सुज्ञ मनुष्यों का चरित्र चढ़कर था !

सत्य, प्रेम, स्वातंत्र्य, साम्य, सहयोग, पवित्र सरलता ;
थे सब के स्वाभाविक गुण, निश्छलता और मृदुलता !

देख-देख उस पवित्र जीवन को सुर ललचाते थे ;
बार-बार नर-तन धरने को मृत्यु-लोक जाते थे !

किन्तु अन्त में उस युग के भी गिरने का दिन आया;
जरा ग्रस्त उस सतयुग में त्रेता ने पैर बढ़ाया !

क्रमशः भूतल पर असुरों का फैल चला अधिकार ;
निर्मल जल पर काई ने फैलाया निज व्यापार !
फैल चला अज्ञान, स्वार्थ में डूब गए सब देश ;
फँसे विलास-पाश में क्रमशः सारे प्रजा-नरेश !
अपनालीं सुर-मनुजों तक ने अनेक असुर प्रथाएँ ;
लगे सीखने कितने ही उनकी ही युद्ध-कलाएँ !
कुछने निज रक्षार्थ असुरगण की नय को अपनाया;
कुछ संगति से सीखे, कुछको असुरों ने सिखलाया !

अतः वासनाएँ आत्मा को कपिवत लगीं नचाने ;
स्वार्थी कवि भी लगे दुष्टता ही की कीर्ति बढ़ाने !
स्वार्थ बन गया सगा, मोह ने स्थान प्रेम का पाया ;
बलिदानों की जगह स्वार्थ-युद्धों ने रंग जमाया !
और आज तो कितने ही सुर-मनुज तलक भ्रम-भूल ;
गिनते हैं आसुरी प्रथाओं को स्वधर्म का मूल !

इस ही भूलभुलैया में है भूल रहा जग सारा ;
फलतः आज प्रेम-नौका को मिलता नहीं किनारा !

सुरगण ने स्वभावतः इसमें थी बाधा पहुँचाई ;
युद्ध-वादियों के विरुद्ध थी पूरी शक्ति लगाई !
इसीलिए सुर-असुर, स्वभाविक शत्रु गिने जाते हैं ;
दोनों निज-निज आदर्शों को जग में फैलाते हैं !
तब ही से सुरगण ने सैनिकता को अपनाया है ;
और तभी से सुर-जीवन में शासक-पन आया है !"

सुरपति बोले, "किन्तु अब तो है यह सब व्यर्थ ;
मेघ-रहित नभ में भला विद्युत का क्या अर्थ ?

बिगड़ चुकी है जब सारी प्राचीन व्यवस्था ;
न वह विश्व की, न है सुरों की रही अवस्था !
तब यह कपि के कण्ठ बँधे मृत-शिशु समान है ;
पुण्य नहीं, पापों के संग्रह का विधान है !
अतः भला है इसे तज, फिर निज रूप सम्हालना ;
फिर सच्चे सुर-धर्म को ही तन-मन से पालना !"

बोले गुरु, "है ठीक मन्त्र यह तात तुम्हारा ;
इस अशान्ति-युग का भी है अब दूर किनारा !
यही नहीं, अब तो इस दुर्गम अन्धकार में ;
मकर-नकर-परिपूर्ण निराशा-सिंधु-ज्वार में ;
आशा की रेखा कहीं दृष्टि तलक आती नहीं ;
शान्ति कहीं क्षण के लिए टिकने तक पाती नहीं !

उलटे हम हैं, इस प्रवाह में बहे जा रहे ;
रही-सही संस्कृतियों को भी हैं भुला रहे !
आज देव निज दिव्य शक्तियाँ भूल रहे हैं;
मात्र राजसिक कर्मों में ही फूल रहे हैं !
श्री-सत्ता का मोह भी है ही उनमें बढ़ रहा ;
और शक्ति-अभिमान भी है ही क्रमशः चढ़ रहा !

किन्तु तुम्हें थी एक काम की बात बतानी ;
सुर-वन्दिनि है आज असुरपति की पटरानी !
हिरण्यकश्यप छोड़ गया था उसे अरक्षित ;
यद्यपि वह थी गर्भवती एवं ज्वर-पीड़ित !
पाया सेना ने उसे मात्र एक दासी-सहित ;
ठहरा रक्खी गई है, वह आदर-युत, सुरक्षित !"

"रानी को ?" कह, सुरपति बोले, कुछ आश्चर्य दिखाकर ;
"अच्छा नहीं किया गुरु ! रानी को वन्दिनी बनाकर !
यदि थी हमें शत्रुता भी, तो थी अरि-योद्धाओं से ;
क्या लेना था भला हमें इन दुःखित अबलाओं से !
महिला, फिर वह कोई भी हो, है सुरगण की वंद्य ;
उसको वन्दिनि करके रखना ही है अनुचित-निन्द्य !

गुरु बोले, "अनुचित तो इसमें कुछ भी नहीं हुआ है ;
सुर-सेना ने युद्ध-नियम का ही अनुसरण किया है !
शत्रु-जनों को धर लेने को थे सैनिकगण बाध्य ;
मुक्ति-दान देना था उनको नहीं किसी विधि साध्य !
हाँ, वह महिला होने से थी विशेष आदरणीय ;
और है किया गया इस दिशा में सब कुछ करणीय !

अस्तु अभी सेनापति नारद मुनि को बुलवाएँगे ;
और वह उसे लेकर अरिदल में पहुँचा आएँगे !
किंतु, देव ! है उसे आपके दर्शन की अभिलाषा ;
वह विदुषी है, और मुझे है उससे अद्भुत आशा ;
रह-रह मेरा मन कहता है, यह कुछ रँग लाएगी ;
इसकी प्रतिभा ही असुरों को सत्पथ दिखलाएगी !

अतः आप पहले तो जाकर, कुछ भोजन पा लीजे ;
फिर कुछ देर शयन कर इस जर्जर तन को सुख दीजे !
सन्ध्या समय शान्त होकर फिर उसको बुलवा लेना ;
उसके हृदय-भाव सुन जो समुचित हो, शिक्षा देना !
जाइए ! न अब और किसी झगड़े में फिर फँस जाना ;
वरन पड़ेगा मुझे आज "सत्याग्रह" यज्ञ रचाना !

गुरु आज्ञा स्वीकार कर, हँसते हुए सुरेश ;
गए शिविर, हिम अङ्क में ज्यों जा छिपे दिनेश!

दीर्घ यात्रा का आया देख अन्त, कुछ धीमे पड़ते हुए ;
अंशुमाली के रथ के अश्व चले जाते थे बढ़ते हुए !
स्मरण से गृह की होकर स्निग्ध, हो चले थे रवि भी कुछ शांत ;
रश्मियाँ भी दिन भर की दौड़-धूप से हो बैठी थीं क्लांत !
कुमुद डरते-डरते निज नेत्र खोलने का करते थे यत्न ;
चकोरों के दल प्रमुदित लगे देखने शशि-दर्शन के स्वप्न !

इसी क्षण चन्द्रावति ने पहुँच, किए सुरपति के चरण स्पर्श ;
चन्द्र ज्यों रवि चरणों में लगा चढ़ाने निज सौंदर्योत्कर्ष !
स्वर्ण अंगों को साड़ी मध्य, फिर छिपाती-सकुचाती हुई ;
फड़कते अधर, सशङ्कित-मुदित-हृदय, नत-नयन, लजाती हुई !

फिराती महिषि स्वपद-नख-अनी, भूमितल पर यों हो स्थिर रही ;
वाक्-साहस खो ज्यों निज मनोभाव भूतल पर हो लिख रही !

समझ असमंजस, मानो महिषि-हृदय-तन्त्री को करते स्पर्श ;
खड़े हो आदर देते हुए, लगे कहने सुरराज सहर्ष !
"तुम्हारे उचित मान, सत्कार में रही हो यदि कोई भूल ;
पुत्रि ! तो करना हमको क्षमा, अवस्था है न यहाँ अनुकूल !
मुझे यदि होता पहले ज्ञात, न तुम लाई ही जाती यहाँ ;
जहाँ होती असुरों की सैन्य, तुरत पहुँचा दी जातीं वहाँ !"

देख यह पित्रोचित सद्भाव, और सुरपति की पावन मूर्ति ;
शिव-सदृश वह श्रद्धास्पद दृष्टि, जो जगत को देती थी स्फूर्ति ;
हृदय रानी का सहसा सरल शिशु-सदृश भावों से भर गया ;
एक ही झौंके में वह वृक्ष लाज-शंका-भय का गिर गया !
रहा संकुचित न फिर संकोच, भार पलकों पर से भी उठा ;
खुले वाणी के बन्धन, चित्त भीरुता के चंगुल से छुटा !

जोड़ कर, सविनय कहने लगी, "सुरों की सज्जनता, सुर-राज !
धार्मिकता, पवित्रता, प्रीति छिपी है जग में किससे आज ?
नहीं हूँ, मैं बन्दी की तरह एक क्षण को भी बरती गई ;
भान होता है मुझको तो कि पितृ-गृह में हूँ मैं रह रही !
स्वयं हूँ, मैं तो लज्जित असुरवर्ग की कृतियों पर सुरराज ;
समझ में ही कुछ आता नहीं, क्षमा भी माँगूं किस विधि आज !

बता सकती मैं यदि यह, देव ! मुझे है कितनी इसकी ग्लानि ;
खटकती है कितनी यह मुझे, व्यर्थ ही धन-जीवन की हानि !
जानता है वह ही जगदीश, मुझे इस रण का है जो खेद ;
सताना उन्हें, हरे, जो नहीं मानते निज-पर तक में भेद !"

ग्लानि से सहसा शशि-मुख-कान्ति इस तरह धुँधली-सी पड़ चली ;
लूह लगने से ज्यों प्रभ-हीन हो चली हो नव चम्पा-कली !

ग्रहण करने का आसन, मान्य अतिथि को देते शुभ आदेश ;
मधुर वीणा-स्वर से, पीयूप-वृष्टि-सम, कहने लगे सुरेश !
"रचा है विधि ने महिला-हृदय दया-शुचिता-सनेह की खानि ;
स्वभाविक और योग्य है, देवि ! तुम्हारे लिए युद्ध से ग्लानि !
चाहता हूँ मैं कितना, अहो ! न्याय होता ईश्वर ने किया ;
दिया होता पुरुषों को वही हृदय, जो तुमको उसने दिया !

असुर-महिषी बोली, "सुरनाथ ! मुझे तो है यह दृढ़ विश्वास ;
कि रखना प्राणिमात्र पर प्रेम, मात्र है धर्म, और परिहास !
अगर वश होता मेरा, प्रभो ! युद्ध करना मैं गिनती पाप ;
द्वेष-ईर्ष्या-लालच को सदा, मानती करुणाकर का श्राप !
अहा ! यदि होता यह, तो आज विश्व होता कैसा सुख-केन्द्र ;
किस तरह मिलकर रहते सभी असुरपति, नृपति, सुरेन्द्र, महेन्द्र !

किन्तु न जाने क्यों विधि ने है की युद्धों की रचना ?
क्यों लिख दिया भाग्य में जग के है यों मरना पचना ?
क्यों है काम, क्रोध, लालच का इतना जाल विछाया ?
क्यों है जग में प्रेम-द्वेप दोनों को प्रमुख बनाया ?"

बोले सुरपति, "सत्य है, पुत्री ! यह अनुमान ;
वास्तव में है प्रेम ही एकमात्र श्रुति-ज्ञान !

प्रेम प्राण है, देह है, जीवन के व्यवहार ;
मृतक - तुल्य हैं प्रेम-हत सारे धर्माचार !

प्रेम है शशांक शान्ति के चकोर हृदय को,
प्रेम है पीयूष भक्ति-सुधा के दीवानों को ;
प्रेम है प्रदीप पन्थ-भूले पथिकों के लिए ,
प्रेम पापहारिणी प्रभा है अघ-खानों को !
प्रेम ही है नाव, पतवार, भव-सर पार
होने वाले वीरव्रती, यती, मतिमानों को ;
ज्ञान का है ज्ञेय, ध्यान का है ध्येय, प्रेम एक ;
प्रेम मोक्ष रूप है सुविज्ञ बुद्धिमानों को !

और यह तो है भ्रम ही कि सृष्टि-मूल ही से
प्रेम और द्वेष दोनों प्रकृति-प्रधान हैं ;
विश्व-रचना ही कह रही है पुकार, मात्र
प्रेम है प्रकृत, शेष प्रेम-उपादान हैं !
गृह, ग्राम, नगर, समाज, राष्ट्र, राज्य—सब
ही की रचनाएँ इस सत्य की प्रमाण हैं ;
युद्ध नहीं, शुद्ध प्रेम ही है धर्म, विज्ञजनों
बीच इसीलिए प्रेम का प्रमुख स्थान है !"

रानी कहने लगी "प्रभो ! है बात समझ में आती ;
'प्रेम प्रकृत है'—यह मीठी ध्वनि किसको नहीं सुहाती ?
किन्तु विश्व में कहाँ प्रेम से सब मिलकर रहते हैं ;
एक दिशा में कहाँ भाव सबके मिलकर बहते हैं !
इसीलिए शंका होती है कि है कहीं कुछ भूल ;
दोनों ही हैं प्रकृत कदाचित, क्या कण्टक, क्या फूल ?

फिर बदले में कौन प्रेम के सदा प्रेम पाता है ?
प्राय आज तो फल सनेह का स्वार्थ नज़र आता है !

प्रभु ! चकोर तो प्रेम-विकल, शशि दर्शनार्थ मरते हैं;
उसके लिए अग्नि तक को रवि-गुन भक्षण करते हैं !
ताकि न रहे दिवस, न रहे शशि-वियोग - चक्कर ही;
किंतु दिखाता है शशि उनपर कब सनेह क्षण भर भी ?"

सुरपति बोले, "देवि ! भूल है थोड़ी इस व्याख्या में;
नहीं प्रेम-परिभाषा हो सकती विलास-भाषा में !
वतमान जग के व्यवहारों में है मोहाभास;
उसे प्रीति कहना तो होगा करना प्रीत्युपहास !
सच्चा प्रेम न कभी निरर्थक गया है, न जाता है;
जगदीश्वर तक पर वह अपना प्रभाव दिखलाता है !

देवि ! प्रेम ही तो इस भूमि पर कल्पवृक्ष,
मोक्षतीर्थ यात्रियों को मुक्ति का संदेश है;
विश्व-बन्धुता के प्रेमियों का है प्रधान अस्त्र,
भक्ति-योग योगियों का नियत प्रदेश है !
नित्य सुख-खोजियों को सौख्य-सिन्धु है, वियोग
रोग-रोगियों को वैद्यराजों का नरेश है;
प्रेम क्या है, प्यारे जगदीश के पुजारियों के
अर्थ निर्विकार करुणाकर महेश है !

रानी बोली, "तब क्रोधाधिक हैं ही क्यों, प्रभु ! जग में ?
किसने डाले हैं ये कण्टक इस कुसुमावृत मग में ?"

बोले इन्द्र, "अवश्य देवि ! रज, तम, सत, धृति, मद, काम
आदि विरोधी भाव-युगों का है यह भूतल - धाम !

किन्तु प्रेम-प्राचान्य पर, इनका कुछ भी भार;
पड़ना सम्भव है नहीं, यदि बन सके विचार!

हाँ, हैं कण्टक कुसुम प्रकृत दोनों ही वन में रानी;
प्रकृति देवि ही है जननी, रज-तम-सबकी जगजानी!
किन्तु ध्येय है काँटों का कुसुमों का रक्षण करना;
न कि पुष्प के एवं पर के जीवन में भय भरना!
इसी तरह रज-तम हैं सत्त्व के स्थैर्योन्नति के साधन;
ज्यों जठराग्नि जठर में रहकर करती है रस-पाचन!

किन्तु भूलवश हम साधन को साध्य बना लेते हैं;
संयत न कर विकृतियों को नित उत्तेजन देते हैं!

आज नहीं हैं खाद्य-वसन-धन तन-रक्षा के साधन;
प्रत्युत तन का ध्येय बन गया है इनका आराधन!
शिक्षा में भी नित्य हमें है जाता यही बताया;
लक्ष्य हमारा है संग्रह करना यह नश्वर माया!
नहीं बताया जाता व्यक्ति-विश्व का हित-सम्बन्ध;
गिनते हैं परकीय परस्पर हम सबको, बन अन्ध!

इसीलिए हैं आज कर रहे दुर्गुण पतन हमारा;
इसीलिए है नहीं प्रेम को मिलता कहीं सहारा!

हम अपथ्य खा काम-क्रोध आदिक को भड़काते हैं;
या पी मादक द्रव्य बखेड़ा-झगड़ा फैलाते हैं!
बड़ा अनावश्यक व्यय हम वैभव-संग्रह को करते हैं;
व्यर्थ लूट औरों की धन-श्री अपना घर भरते हैं!
फिर कहते हैं, युद्ध-प्रेम हैं दोनों प्रकृत जगत में;
या त्रुटि है तो ईश्वर की है सुकृति-विकृति-उन्नति में!

आवश्यकता-वश विधि से विष तक खाया जाता है;
और सुधा-सम वही लाभ रोगी को पहुँचाता है !
किन्तु अनावश्यक घृत से भी होता स्वास्थ्य विकृत है;
यही नियम अन्तर-बाहर जग पर सर्वत्र घटित है !
यदि हम करें सभी का आवश्यकता पर उपयोग;
तो न युद्ध हों, न ही द्वेष का रहे जगत में रोग !
फिर है प्रकृत वही जिससे जन कभी नहीं उकताता;
और कौन है जिसको हो नित कलह-काण्ड ही भाता ?

एक बात है और देखने में फिर दैनिक आती;
सभी प्राप्त भोगों से है रुचि जल्दी ही भर जाती !
फिर उनमें पैदा करनी पड़ती है नित नूतनता;
तब रुचि थिर रहने की हो सकती है दूर कठिनता !
क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि है भूल चुनने में ?
आत्म-ध्येय के तथा प्रेम के गुण-लक्षण गुनने में ?

यदि भौतिक धन-भोग ही हों आत्मा के ज्ञेय;
तो न शान्त हों वासना क्यों पाकर निज ध्येय ?

रानी बोली, "किन्तु, देव ! यदि और सभी हैं साधन;
मात्र स्वार्थ-हत-साहचर्य ही है स्वाभाविक जीवन !
प्रश्न वही है, सृष्टि प्रेम की फिर क्यों भक्त नहीं है ?
क्यों न आज समुदाय एक में भी यह व्यक्त कहीं है ?
निज स्वभाव को कैसे सब सर्वथा भूल जाते हैं ?
कैसे सुधा-जलद भी, भगवन् ! पावक बरसाते है ?"

सुरपति बोले, "निश्चय ही है यह भी नहीं अकारण;
यद्यपि प्रकृत वही है, जो करता है जग को धारण !

अथवा जो लघु-श्रेष्ठ सभीके अर्थ परम पोषक है;
सब बातों में स्वास्थ्य-सुरुचि की उन्नति का द्योतक है !
तदपि मनुष्य अपूर्ण जीव है; आध्यात्मिक विज्ञान—
रहता है उसके शैशव में केवल बीज समान !
फिर भी यदि उसको न सिखाएँ हम कुछ निज व्यापार;
तो निश्चय, न करेगा वह जग में ऐसे संहार !

किन्तु वायुमंडल, कुल-शिक्षा मिल उसके जीवन में;
कर देते हैं प्रकृति-विरोधी परिवर्तन बचपन में !
विशेषतः प्रारम्भिक जीवन में भौतिक अज्ञान
रखता है उसकी कृति-गति-मति सब ही पर प्राधान्य !
और विकृति-अज्ञान, प्रकृति हैं चुम्बक-लौह समान;
एक दूसरे का स्वभावतः करते हैं आह्वान !
अतः न हो यदि बाधा तो वे निज गुण दिखलाते हैं;
विष को सुधा, सुधा को विष, दुख को सुख बतलाते हैं !

रानी कहने लगी, "कौन है तब, प्रभु ! वह अपराधी ;
जिसकी त्रुटि से आई है इस बार विकृति की आँधी ?
क्या इस युग में कोई ऐसा है ही नहीं समाज ;
जो इस सदादर्श पर चल सन्मार्ग दिखाता आज ?
या उस समाज ने ही रक्खी नहीं लक्ष्य पर दृष्टि ?
और उसीके कारण सारी भटक रही है सृष्टि ?"

ग्लानि का अनुभव करते हुए, कहा सुरपति ने शिर नत किए;
"गिना जा सकता मुझको छोड़, कौन है दायी इसके लिए !
देवि ! हों सुर या असुर मनुष्य, सभी हैं एक वंश के व्यक्ति;
पृथक करती है केवल उन्हें, आचरण एवं बौद्धिक शक्ति !

अतः ऐसे सब ही समुदाय, गिने जाते हैं जो सविवेक;
हृदय में होता जिनके सतत है दया प्रेम-भाव उद्रेक !
समझने की है जिनमें शक्ति, स्वकर्मों के निश्चित परिणाम,
जिन्हें है दी विधि ने दुर्लभ्य, बुद्धि-व्यवसायात्मिका ललाम !
सभी हैं यद्यपि दोषी, देवि ! कर्म के नियमों के अनुसार;
तदपि करना होगा स्वीकार कि मुझपर था सर्वाधिक भार !
श्रेष्ठतम प्राणिसंघ का प्रमुख व्यक्ति होने से था मम धर्म;
कि मैं ही बन सबका आदर्श, रोकता ऐसे सब दुष्कर्म !

किन्तु मैं रूढ़ि-पाश में फँसा, देख ही नहीं सका यह भूल;
मात्र कंकर ही चुनता रहा, बैठ रत्नाकर के भी कूल !
भूलकर प्रथा-ध्येय को मनुज रूढ़ि के बनते हैं जब दास ;
नाम पर तब स्वधर्म के मूढ़, धर्म का करते ही हैं नाश !

किन्तु अब इस रण ने है, देवि ! खोल दी मेरी अन्तर्दृष्टि;
स्वप्न-सम हैं हो गई विनष्ट आज वह अब तक की सुर-सृष्टि !
आज सुरगण के पुनरुद्धार-कार्य का है उपक्रम हो चुका;
समझ लो, सुर-समाज से हिंस्र युद्ध का भी उपशम हो चुका !
किया था निज जीवन में प्रथम बार ही मैंने यह संग्राम;
और होगा अन्तिम भी यही, जहाँ तक है सुरगण का नाम !

आज से सुरगण सुरपुर छोड़, करेंगे शुद्ध मनों पर राज्य;
युद्ध, प्रतिशोध, विभव, ऐश्वर्य, सर्वथा होंगे उनको त्याज्य !
प्रकृति, गति, कृति, विचार, व्यवहार, कभी अपने न छोड़ते हुए;
दूसरोंके उदार-अनुदार क्रमों को भी न तोड़ते हुए;
सभीपर रखते प्रेम अपार, सभीका करते सम उपकार;
मित्र-अरि को करते सम प्यार, हरेंगे वे भूतल का भार !

असुर-महिषी गद्गद् हो उठी, वह चली नेत्रों से जलधार;
दया-वारिद से मानो विमल सुधा की पड़ने लगीं फुहार !
हो चली उसकी वाणी अचल, उठा हृद-भावों का तूफ़ान;
पूर्ण शशि देख सिंधु-हृद मचा तरंगों का हो ज्यों घमसान !
अन्त ज्यों-त्यों निज भावावेश रोककर, वह श्रद्धा के साथ;
स्पर्श कर फिर सुरेश के चरण, लगी करने स्तुति जोड़े हाथ !

"धन्य देव ! है त्याग आपका, धन्य आपकी प्रीति;
धन्य आपकी धर्म-वीरता, धन्य निष्कपट नीति !
प्रभो ! आपको छोड़ और है भी किसमें यह शक्ति,
जो सारे जग को दिखला दे, किसको कहते त्यक्ति !
और कौन है, जिसपर गुण कर सकते हों अभिमान ;
जो कर सके प्राप्त रिपु के हृदयों में भी सम्मान !
जो दे प्रतिघातों का बदला प्रेम और मानों से ;
जो करदे अनीति को कुंठित अपने बलिदानों से ;
जिसका नाम-स्मरण हृदय में सुर-उद्यान खिलाए ;
सेवा, समता, त्याग भाव की फल-नादिनी बहाए ;
जो कुटिया, महलों-सब में सम कृपा-वृष्टि बरसाए ;
जिधर जाय उस ओर प्रेम-पावस के घन उमड़ाए !

यह बलिदान आपका, प्रभु ! निश्चय नव युग लाएगा;
निश्चय फिर भूतल पर ध्वज सतयुग का फहराएगा !
फिर इस मरुथल के कण-कण पर सुन्दर फूल खिलेंगे;
फिर भूतल के भूले-बिछुड़े सारे हृदय मिलेंगे !
फिर जग-वन में एक बार समता-कोकिल गाएगी !
विश्व-बन्धुता की समीर फिर घर-घर लहराएगी !"

सुरपति बोले, "देवि ! नहीं है इसमें कुछ भी नव्य;
मात्र किया है मैंने तो पालन अपना कर्त्तव्य !
इतने दिन तक नहीं किया, इस ही का है परिताप;
कौन कहे, क्यों हुई भूल यह, किसका था यह श्राप ?"

रानी बोली, "देव ! आज इस पाप-भरे भव-सर में;
कितने हैं, जो करते हों इतना भी विकृति-प्रहर में ?
कितने हैं, जिनको हो निज कर्त्तव्य प्राण से प्यारा ?
जो धर दें, इस भाँति धर्म पर, तन, मन, वैभव सारा ?

किंतु, देव ! होवेगा किस विधि असुरों का उद्धार ;
जिनके राज्य-लोभ सम्मुख है जग का जीवन-भार ?
जब तक उनके लिए न समुचित आप उपाय बताएँ !
तब तक, सम्भव नहीं, शांति के शुभ दिन जग में आएँ !"

सुरपति कहने लगे, "और क्या मैं बतला सकता हूँ ;
मार्ग एक ही है, जिसको मैं स्वयम् ग्रहण करता हूँ !
यदि साम्राज्यवाद से असुरादिक छुटकारा पालें;
और साथ ही सत्य-प्रेम के नियमों को अपनालें !
तो निश्चय ही उनसे भी होगा जग का कल्याण;
वैसे भी तो सेवा ही है जग में मान-स्थान !"

रानी बोली, "फिरो, प्रभु ! है इससे इन्कार ?
महानता का स्थान है, सेवा, न कि अपकार !

निश्चय ही, भय द्वारा निज मत मान्य कराना,
अथवा भय के सम्मुख निज सिर-हृदय झुकाना;

पशुबल-भय को शासन का आधार बनाना,
भय वश ही अत्याचारी के गुण-गण गाना;
दोनों ही हैं घोरतम पाप प्राणियों के लिए;
लांछन हैं सभ्यता के दुरभिमानियों के लिए !

और आपका निश्चय भी अभिनन्दनीय है,
क्योंकि देव-आचरण विश्व में वन्दनीय है;
उन ही का आचरण देखकर जग चलता है,
उन ही से सद्भावों को पोषण मिलता है !
विश्व-वृक्ष तो सुरपुरी उसका मूल स्थान है;
रस का अनुगत वृक्ष का जीवन-नियम विधान है !

किंतु प्रभो नर-असुर भूल से भरे हुए हैं,
और विकृति-उत्तेजक जग से घिरे हुए हैं;
नहीं सुरों के दिव्य आचरण ज्ञात उन्हें हैं,
न ही संस्कृति-शिक्षा-साधन प्राप्त उन्हें हैं !
पूर्ण अहिंसा-धर्म वे पाल सकेंगे किस तरह ?
काक हंस की चाल ही भला चलेंगे किस तरह ?

और न जब तक सभी अहिंसा को अपनाएँ,
प्रेम-सत्य को मुख्य धर्म के स्थल न बिठाएँ;
संग्रह का न महत्व सभी सभ्यता घटादें;
तथा न निज-पर, अधम-श्रेष्ठ के भेद मिटादें;
तब तक जग की दृष्टि से यह सब होगा व्यर्थ ही;
रुकेगा न नर नाश ही और न भेद-अनर्थ ही !
अतः साथ ही, रख अंशों की दशा ध्यान में,
और विविध त्रुटियाँ उनके जीवन-विधान में;

ऐसा करिए यत्न, कि जो वे भी वेचारे,
उठा सकें कुछ लाभ त्याग से देव ! तुम्हारे !
तभी आपका यह सुखद निश्चय होवेगा सफल;
तभी विश्व में बहेगी शान्ति-सुधा-धारा विमल !"

सुरपति लगे कहने, "सती ! यह सत्य है, संसार में;
है भिन्नता नर, सुर, असुर प्रत्येक के आचार में !
प्रत्येक है लघु-श्रेष्ठ, सद्गुण-ज्ञान के व्यापार में !
है त्रुटि, कहीं कुछ वायुमण्डल में, कहीं व्यवहार में !

फिर भी विभिन्न तरु, गुल्म, पत्र, पुष्प-श्रेणी,
सारी मिल एक उपवन ही बनाती हैं;
सप्त-धातु, पंचतत्व, पाप-पुण्य की प्रवृत्ति
आदि मिल ही तो इस विश्व को रचाती हैं !
इसी भाँति ध्रुव सारी सृष्टि का है एक मोक्ष,
अथवा विकास, श्रुति भी यही सिखाती है;
जड़ सृष्टि में भी तमोगुणी वस्तु रज और
रज सत्वावस्था-प्राप्तिरत पाई जाती हैं !

है जग में सर्वत्र ही बुरे-भले का मेल;
रहते सुमनों-मध्य भी हैं कण्टक, विष-बेल !

अतएव जिस भाँति देह के विभिन्न अंग,
भिन्न-भिन्न भाव, वर्ण, रूप, गुण वाले हैं;
अग्नि, जल, वायु, पित्त, वात, कफ़, कर, पद,
नेत्र, श्रोत्र, नाक, सबके ढँग निराले हैं !

कोई कटु हैं तो कोई मधुर, कसैले, तीक्ष्ण,
कोई बंक-बक्र कोई श्वेत, कोई काले हैं;
तो भी हैं सभी ये एक दूसरे के पोषणार्थ,
सारे देह ही की शक्ति को बढ़ाने वाले हैं !

उसी भाँति भेद तो रहे हैं, रहेंगे भी सदा,
सम्भव नहीं कि पिक, काक एक राग गाएँ !
सूर्य से स्रवे सुधाँशु-सीकर, शशाङ्क रवि-
रश्मि सैन्य लिए रस-रंगों की सभा सजाएँ !
वाँछनीय मात्र यही है कि एक ध्येय मान
कैसे सारे भेद-भाव अंगों में बदल जाएँ ?
कैसे पात्रतानुसार सानुकूल साधनों का
कर उपयोग सभी विश्व में वसन्त लाएँ ?

किन्तु साथ ही सुरों से न होगा असुरों का त्राण;
सुर कर सकते नहीं असुरगण का जीवन-निर्माण !
कारण, रहता प्रायः सब ही वर्गों में यह भ्रम है;
भिन्न अन्य वर्गों से उनका प्रकृति-विकृति अनुक्रम है !
मात्र आचरण सवर्गीय के ही हैं उनको साध्य;
सवर्गीय आदर्श मानने ही को हैं वे वाध्य !

मात्र सुशिक्षित समाज ही इस अन्धरूढ़ि को भूल;
संग्रह करते हैं जग-वन के प्रति तरु से गुण-फूल !
परन्तु असुरों में शिक्षा का है नगण्य विस्तार;
मात्र पाशविक जीवन ही है उनका जीवन-सार !
अतः असुरगण में ही पैदा जब कोई सुर होगा;
तभी असुर-हृदयों में पैदा फिर धर्माँकुर होगा !

तभी असुरगण वर्तमान घातक पथ को छोड़ेंगे;
तभी दूसरे दल भी इन युद्धों से मुख मोड़ेंगे !"

असुर-महिषि बोली, 'यह कैसे, देव ! सम्भवित होगा ?
पश्चिम में भी सम्भव है क्या दिनकर उत्थित होगा ?
क्या कज्जल में भी उज्ज्वलता पैदा हो सकती है ?
गंगा भी क्या काकों की श्यामलता धो सकती है ?
अर्थ वही है, हो सकता उद्धार नहीं इस दल का ?
क्षार नहीं है कहीं काटने वाला इनके मल का !"

सुरपति कहने लगे, "नहीं है अशक्य कुछ भी होना;
और जगह क्यों, यहीं, देवि ! अपनेको ही देखो ना ?
भेद बने हैं गुण-दोषों से, उन ही से मिटते हैं;
भ्रमवश इन्हें प्रकृत गिन जन ये उपमाएँ रटते हैं !
आखिर तम में से ही तो दिनकर प्रकटित होता है;
घृणित पङ्क में से ही तो पंकज विकसित होता है !
जब हो सकती हैं असुरों में देवि तुम्हारे जैसी;
तो हो सकती नहीं, भला क्यों सन्तति उनकी ऐसी ?

और मुझे तो ऐसा भासित होता है कि, तुम्हारे—
यत्नों ही से असुरगणों के पाप कटेंगे सारे !
सम्भवतः है यही विश्व के कर्त्ता की शुभ इच्छा;
कि इस वर्ग को तुम ही दो इस प्रेम-धर्म की दीक्षा !
और मुझे आशा है, तुम अवसर न कभी छोड़ोगी;
समय पड़े कर्त्तव्य-कर्म से कभी न मुख मोड़ोगी !"

रानी बोली, "भला, देव ! अबला क्या कर सकती है ?
चींटी क्या रजकण चुन-चुनकर समुद्र भर सकती है ?

फिर भी यदि मैं कोई भी ऐसा अवसर पाऊँगी;
तो निश्चय ही स्वकर्त्तव्य पर बलि तक हो जाऊँगी !
मेरा सबसे बड़ा ध्येय है पति-कुल का कल्याण;
वर्तमान पापान्ह नीति से करना सबका त्राण !

"नहीं है यद्यपि मुझको, देव ! धर्म-सम्बन्धी पूरा ज्ञान;
तदपि है इतना तो विश्वास, कि है यह विश्व कुटुम्ब महान !
या कहूँ यों कि विश्व है देह, और हम सभी अंग-प्रत्यंग;
एक अणु की भी कृति है सभी विश्व पर लाती अपना रंग !
अतः हम जो कुछ सोचें-करें, ध्येय उसका हो सबका त्राण;
तभी हो सकता है सर्वत्र चराचर का निश्चित कल्याण !"

इन्द्र बोले, "है पुत्री ! यही तो श्रुति-स्मृतियों का मर्म;
वास्तव में तो हैं इस कर्म-ज्ञान में ही केन्द्रित सब धर्म !
कर्म है प्रकृति, कर्म है ब्रह्म, कर्म ही इस जग का आधार;
कर्म है वह पवित्रतम शक्ति कि जिसका आश्रित है संसार !
किंतु है कर्म दुधारा खंग, जहाँ है वह अनन्त का द्वार;
वहीं है वह दुस्तर, दुर्गम्य, विदित वैतरणी की भी धार !
ज्ञान-युत कर्म, कर्म-युत ज्ञान, जहाँ करता है जग-कल्याण;
ज्ञान-हत कर्म, कर्म-हत ज्ञान, वहाँ है विनाश का सामान !

फलेच्छा का करके बलिदान, मिटाकर स्वकीयता का भान;
विश्व-हित में अपना हित मान, कर्म का करे सदानुष्ठान !
भोग में योग, क्रिया में स्थैर्य, रखे दुख-तवण्डरों में धैर्य;
विकृति का ज्वार करे न स्पर्श, सभी सम हों विपत्तियाँ-हर्ष !
ध्येय से दृष्टि न क्षणभर टले, कामना से न कर्म-तरु फले;
तभी है कर्म मोक्ष का द्वार, अन्यथा है रूपे का हार !

असुर यदि लें इतना ही मान, करा तुम सको उन्हें यह भान;
तदपि निश्चय समझो, देवि ! कि इससे होगा लाभ महान !"

रानी कहने लगी, "किन्तु है देव ! नहीं यह सम्भव;
कि कर सकूं मैं असुरों में इन सद्भावों का उद्भव !
प्राप्त नहीं है असुरों में वह पद हम अबलाओं को;
जो देता है खुला क्षेत्र सबकी कृति-इच्छाओं को !

ब्याह नाम से हम तो वास्तव में बेची जाती हैं;
दासी हैं सचमुच, हाँ, वैसे गृहिणी कहलाती हैं !
धन दे प्राप्त पोडशी कर लेता है साठ बरस का;
कहीं पोडशी पाती है पति केवल आठ बरस का !
उसपर सिखलाया जाता है, कि है विषय-सुख धर्म;
इन्द्रिय-सुख की तृप्ति मात्र है महिलाओं का कर्म !

बन्धनहीन हमारे पति हैं, सब कुकर्म करने में;
किंतु पतित हो जाती हैं हम भूले भी गिरने में !
हम उनकी रंजन-साधन हैं, वे हैं छैल-छबीले;
कर सकती हैं हम न इस दशा पर स्वनेत्र भी गीले !"

सुन रोमांच हो उठा सुरपति को, "शिव-शिव" कर बोले;
"हो सकते हैं क्या असुरों में जन इतने भी भोले ?
देवि ! सुता-कर जो अयोग्य वर के कर पकड़ाते हैं;
वे पितु-माता दास-दासियाँ बनकर दुख पाते हैं !

कन्या पर छदाम लेना भी है गोवध-सम पाप;
सात जन्म तक नहीं छूटता कन्याओं का श्राप !
जिस समाज में होता है महिलाओं का अपमान;
अथवा रक्खी जाती हैं वे दासी-छाग-समान;

वे समाज परतन्त्र-पाश फँस विविध क्लेश पाते हैं;
धन आजाय, न पर उनके गृह सच्चे सुख आते हैं !

और बिषय-संभोग आदि को कहना सुख के साधन;
तो है प्रगट पतन का पथ ही तथा अघों का अर्जन !
प्रजा-वृद्धि है स्पष्ट राष्ट्र की भौतिक आवश्यकता;
और उन्हीं नियमों से पाती है वह धर्म-विहितता !
अथवा क्षम्य क्वचित निर्बलता जा सकती है मानी;
किन्तु उसे सद्धर्म मानने वाले हैं अज्ञानी !"

फिर बोले, "अबलाएँ क्यों यह सब चुप ही सहती हैं ?
कैसे ऐसी हेय दशा में वे निष्क्रिय रहती हैं ?"

रानी बोली, "शिक्षा तो दी ही न हमें है जाती;
हाँ, परावलम्बिता हमें है सारी सृष्टि सिखाती !
तिस पर वसनाभरण, खाद्य हैं व्यसन बनाए जाते;
हैं इस भाँति हमारे व्यय नित नए बढ़ाए जाते !
फलतः जब विरोध करने की हमें उमँग आती है;
तब ही यह आर्थिक परवशता आड़ी आ जाती है !

नहीं भरोसा कर सकतीं हम जीने का निज बल पर;
अतः सहन करना पड़ता है जो दिखलाए ईश्वर !
दो ही पथ रहते हैं, या तो सतीत्व का प्रण तोड़ें;
अथवा धर्म, या स्वप्राणों का मोह सदा को छोड़ें !
पति भी जान इस विवशता को मनमानी करते हैं;
करें भी न क्यों भला, ग्वाल भेड़ों से कब डरते हैं ?
और हमीं क्या, पुरुषों तक के हैं प्रभु ! यही विचार;
कि है दूसरों के श्रम पर जीना उनका अधिकार !"

सुरपति बोले, "धन्यवाद है ईश्वर का सुरपुर में;
अटल राज्य है स्वावलम्ब का प्राण-सदृश घर-घर में !
अबलाएँ तक, पतियों पर भी, रहते तन सामर्थ्य;
भार भरण-पोषण का रखना गिनती हैं अब व्यर्थ !
यही नहीं, राष्ट्रीय कार्य, जन सेवा, अथवा शासन
में भी विवश हुए ही लेते हैं सुर केवल भोजन !

और चिकित्सा, ब्याह, न्याय, शिक्षा एवं रक्षा पर;
धन लेने वालों को तो गिनते हैं यहाँ निशाचर !
पति-पत्नी दोनों ही का पद सम माना जाता है;
एक दूसरे की सहायता धर्म गिना जाता है !

फिर होती है इस कृति से तो असुरों की ही हानि;
पड़ता है पति पर सबके पोषण का कष्ट महान !
न हो सहायक उनको गृहिणी बाधक हो पड़ती है;
हर जोखम के अवसर पर गृह-चिन्ता आ अड़ती है !

यही नहीं शासन की भी इससे होती है हानि;
कारण, पराधीनता है दुश्चरित्रता की खान !
और जहाँ औरों के श्रम पर जीना होवे नीति;
उस थल तो कलि-दूतों को होती ही है कब भीति ?
वहाँ सबल निर्बल बन जाते हैं भक्षक औ' भक्ष्य ;
पक्ष-शून्य शर प्राय रक्ष्य को ही करते हैं लक्ष्य !

फलतः राज्य अश्रिय बन होता है विनष्ट, बलहीन;
रखते इसीसे स्वभृत्यों को हैं नृप जनताधीन !
देवि ! मुझ नृप को कहते हैं बुधजन सुचतुर माली;
जिसका प्रमुख धर्म है करना उपवन की रखवाली !

नित्य दुर्गुणादिक तृण चुन-चुन वन को स्वच्छ बनाना;
हर पौधे की उन्नति कर, पर्याप्त खाद पहुँचाना;
नहीं किसीकी स्वतंत्रता खाद्यादिक छिनने देना;
सबको बना स्वावलम्बी, पक गिरे हुए फल लेना !
अहो ! जो नृपति प्रजाजनों से अधिक सुखी रहता है;
वह कैसे अपने को पितु कह सकता, या कहता है ?"

रानी बोली, "किन्तु उन्हें होता है कब यह भान ?
हो भी कैसे, नृप-नय ही तो है इस नय की खान ?
राज्य स्वयं जब दुराचार, छल-बल को अपनाता है;
तब अघ का भय, प्रभु ! जनपद में भी हट जाता है !
फिर जिनका हो बना लक्ष्य ही भौतिक भोग-विलास;
उनको तो पर को परवश रखते ही हो क्यों त्रास ?"

सुरपति बोले, "तदपि नारियों पर ही है यह भार;
कि वे करें सर्वस्व लगाकर भी अपना उद्धार !
जग में सबको निज पैरों ही से चलना पड़ता है ;
बिना हिलाए कर, मुख से मच्छर भी कब उड़ता है ?
कठिनाई को देख भागना है कायर का काम;
श्रेष्ठ व्यक्ति करते हैं उनसे जीवन-भर संग्राम !

फिर जब तक न बनें महिलाएँ स्वयं सुज्ञ, धृति-मान;
तब तक हो सकती है उनकी सन्तति कब गुणवान ?
उनका है कर्त्तव्य स्वपति को धर्म-मार्ग पर लाना;
और न जब तक सुधरें, उनका जीवन भार बनाना !
तुम्हें रहा है नहीं, देवि ! वास्तव में निज बल-ज्ञान;
वरन् आज भी कौन शक्ति है जग में नारि समान ?

अब भी गृह का शान्ति-सौख्य है सभी तुम्हारे कर में;
इस बल का उपयोग युक्ति से करके अपने घर में;
तुम पुरुषों को विवश बना सकती हो सब करने को;
कर सकती हो तत्पर उनको धर्म-अर्थ मरने को !
देवि ! नारि जो कुमार्ग में पति को जाने देती है;
वह निश्चय उसके आधे अघ अपने सिर लेती है !

कारण, वह सहधर्मिणि है, अतएव भार है उसपर;
कि वह करे सहयोग वहीं, हो स्वामी जहाँ सुपथ पर !
यदि पति धर्म-मार्ग तज दे तो असहयोग कर देना;
जब तक तजे न कुपथ, किसी भी कृति में भाग न लेना !
यदि वह भयवश यह न करे तो पाएगी अघ-खण्ड;
कर्म-नियम है—सहयोगी भी पाता है सम-दण्ड !

और भले ही पित-भ्राता के हो, या पति के आश्रित;
पर-आश्रित रहना भी तो है करना अघ ही संचित !
जब हैं हरि ने दिए तुम्हें भी सब-सम कर-पद-ज्ञान;
तब पर-आश्रित हो नीचा पद लेना है अघ-खान !
देवि ! शक्ति रहते भी जो पर सिर बैठा खाता है;
उसे चुकाने को फिर वह पालू-पशु तन पाता है !"

बोली महिषि, "न होगा क्या, प्रभु ! इससे हमको पाप ?
पतिव्रत के विरुद्ध शिक्षा देते हैं किस विधि आप ?"
सुरपति हँसकर बोले, "यह ही तो है भीषण भूल;
रूढ़ि-पाश में फँस हम प्रायः चलते हैं प्रतिकूल !
यदि सुविहित-अविहित सब सहना ही पातिव्रत होवे;
तो क्यों उसके पालन से पत्नी निज सुख-गुण खोवे ?

देव ! हानिकर हो समाज को, वह है स्पष्ट अनीति;
धर्म कहाती है समाज की धारण-कर्त्री-नीति !
फिर है मूल परस्पर के सब सम्बन्धों का धर्म;
अतः त्याग पति स्वधर्म को यदि करने लगे अकर्म;
तो पत्नी का है हो जाता यह कर्त्तव्य निवार्य,
कि त्याग पति-सहयोग करे निर्भय निज धार्मिक कार्य !
भला अन्यथा भेद रहेगा क्या दासी-गृहिणी में ?
क्या अन्तर होगा व्यभिचारिणि एवं कुल-रमणी में ?

हाँ, विषयेच्छा, लोभादिक वश अशान्ति गृह में भरना;
या न अनुसरण पति का धर्म-विहित कार्यों में करना;
निज शृंगार-विलास साधनों पर उत्पात मचाना;
कठिनाई को देख भीत हो स्वयम् पृथक रह जाना;
द्वेष विवश पति के विरुद्ध शठ-षडयंत्रों का रचना;
आदि पाप हैं और चाहिए इनसे सबको बचना !"

बोली महिषि, "देव ! तब तो जो दीन असुर बालाएँ;
प्रेम-विवश हो, उपपत्नी बन, करती हैं सेवाएँ;
तज देती हैं गृह-समाज सम्पति के सब अधिकार;
गिनती हैं पति का अन्धानुगमन ही जीवन-सार;
एवं पीछे सन्तति-सह गिन ली जाती हैं दासी;
उनकी ये कृतियाँ भी होंगी अन्त अवों की फाँसी ?"

सुन सुरेन्द्र कुछ अस्थिर, एवं होकर फिर गम्भीर;
बोले, "निश्चय देवि ! ये सभी कृति हैं पाप कुटीर !
और देवि ! ऐसे कृत्यों का प्रेम नाम बतलाना
तो है पावन प्रेम-नाम पर घोर कलंक लगाना !

सच्चा प्रेम स्वाभिमानी प्राणी में ही होता है;
और स्वाभिमानी न कभी निज धर्म-मान खोता है !
वह करता है आत्मसमर्पण आत्मसमर्पण ही को;
एवं बलि देता है सर्वस सर्वस्वार्पण ही को !

अधम व्यक्ति जो स्वयं नहीं करता है कुछ भी त्याग;
उसके लिए दास-पद लेना है लेना दुर्भाग्य !
देवि ! रचा है ईश्वर ने नारी को पुरुष-समान;
अतः नीच पद लेना है करना हरि का अपमान !
जो स्त्री विमोहवश है निज पद पर यह दोष लगाती;
निश्चय है, उस अधम पति-सहित वह दुर्गति ही पाती !

नहीं रची हो गई देवि ! तुम प्रेममयी इस अर्थ;
कि इस प्रेमवश फैलाओ जग में यह क्रान्ति-अनर्थ !
प्रत्युत है इस हेतु दिया यह सुर-बल महिलाओं को;
कि वे सतत रोकें पुरुषों की अनुचित पशुताओं को !
और सिखाएँ उन्हें प्रेम से सबसे मिलकर रहना;
पर-पीड़न में नहीं, और की रक्षा में दुख सहना !
अतः इस दिशा में तो होगा तुमको उद्यम करना;
और असुर दल-अर्थ प्रमाणित होगा वह पय-झरना !

रहा प्रश्न सारे असुरों का, सो उनका उद्धारक;
हिंसा-तम में प्रेम-सत्य का स्निग्ध प्रकाश-प्रसारक;
वर्तमान है गर्भ तुम्हारे, शिक्षित उसे बनाना;
अपनी धर्म-सुधा सयत्न रुचि भरकर उसे पिलाना !
सफल काम होगी तुम, है यह आशीर्वाद हमारा;
शान्ति-युद्ध का आविष्कर्त्ता होगा पुत्र तुम्हारा !

देवि ! पूज्य नारद कुछ क्षण में ही आने वाले हैं;
वह ही तुम्हें स्वगृह पहुँचाने को जाने वाले हैं !
उत्तम हो, तुम उनसे ले लो भक्ति-योग की दीक्षा;
वह कर सकते हैं सब शंकाओं की सरल समीक्षा !
ईश्वर करे, तुम्हारे इच्छा-वन में ऋतुपति आएँ;
फिर इस असुर-अरण्य मध्य सत्प्रीति-समीर बहाएँ !

फिर, इस द्वेष-दग्ध जग में सुख का समुद्र लहराए;
फिर, जगती पर बन्धु-भाव की विमल चन्द्रिका छाए !
फिर, मरुथल कूजित कुंजों, स्मित पुष्पों से भर जाएँ;
फिर, कोकिल 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की रागिनी सुनाएँ !
फिर, बल की पूजा उठकर हो सत्य, न्याय की अर्चा ;
फिर, घर-घर में स्वार्थ छोड़ हो त्यक्ति-भक्ति की चर्चा !

कहकर, मुद सुरपति उठे, बरसाते उल्लास;
रानी भी ले चरण-रज, आई निज आवास !